भरत का भारत

(१)

यशस्वती महादेवी राजमहल में सो रही थीं, रात्रि के पिछले प्रहर में उन्होंने उत्तम-उत्तम छह स्वप्न देखे। स्वप्न देखने के बाद मंगलपाठ पढ़ते हुए बंदीजनों के शब्द सुनकर वे जाग पड़ीं। बंदीजन इस तरह पाठ पढ़ रहे थे कि—

''हे कल्याणि! दूसरों का कल्याण करने वाली और स्वयं सैकड़ों कल्याण को प्राप्त होने वाली हे देवि! अब तुम जागो, क्योंकि तुम कमलिनी के समान शोभा धारण करने वाली हो। हे देवि! जिस प्रकार मानसरोवर पर रहने वाली राजहंस की प्रियवल्लभा नदी का किनारा छोड़ देती है, उसी प्रकार तीर्थंकर ऋषभदेव के मन में निवास करने वाली और उनकी प्रियवल्लभा तुम भी शैय्या छोड़ो।''

इस प्रकार बंदीजनों के मंगलपाठ और दुंदुभियों के शब्दों को

सुनते हुए महारानी यशस्वती अपनी शैय्या छोड़कर प्रात:कालीन मंगलस्नान से निवृत्त हो, राजसभा में राजाधिराज ऋषभदेव के समीप पहुँचीं। वहाँ पतिदेव के समीप अपने योग्य सिंहासन पर सुखपूर्वक बैठ गईं। अनन्तर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक निवेदन करने लगीं—

'' हे देव! आज रात्रि के पिछले भाग में मैंने उत्तम-उत्तम छह स्वप्न देखे हैं, उनका फल आपके श्रीमुख से सुनना चाहती हूँ। स्वामिन्! स्वप्न में १. सुमेरुपर्वत २. चन्द्रमा ३. सूर्य ४. हंससहित सरोवर ५. चंचल लहरों वाला समुद्र और ६. ग्रसित होती हुई पृथ्वी देखी है।''

इतना कहकर महादेवी प्रभु के शब्द सुनने की उत्सुकता से सन्मुख देखने लगीं। तभी अवधिज्ञानरूपी दिव्य नेत्र के धारी प्रभु बोले—

''हे देवि! स्वप्नों में जो तुमने—

१. सुमेरुपर्वत देखा है, उसका फल यह है कि तुम्हारे चक्रवर्ती पुत्र का जन्म होगा।

२. चन्द्रमा के देखने से वह अपूर्व कांति का धारक होगा।

३. सूर्य के देखने से वह पुत्र छह खंड विजयी महाप्रतापी होगा।

४. हे कमलनयने! सरोवर के देखने से तुम्हारा पुत्र अनेक पवित्र लक्षणों से चिन्हित शरीर होकर अपने विस्तृत वक्षस्थल पर कमलवासिनी—लक्ष्मी को धारण करने वाला होगा।

५. हे देवि! पृथ्वी का ग्रसा जाना देखने से वह तुम्हारा पुत्र चक्रवर्ती होकर समुद्ररूपी वस्त्र को धारण करने वाली समस्त पृथ्वी का पालन करेगा।

६. और समुद्र के देखने से यह प्रगट हो रहा है कि वह चरमशरीरी होकर संसाररूपी समुद्र को पार करने वाला होगा।

इसके सिवाय इक्ष्वाकुवंश को आनन्द देने वाला वह पुत्र तुम्हारे सौ पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ होगा।''

पति के मुखारविंद से ऐसा फल सुनकर यशस्वती देवी हर्ष से रोमांचित हो गईं पुन: कुछेक क्षण बाद वे अपने अंत:पुर में वापस आ गईं। सर्वार्थसिद्धि से च्युत होकर अहमिन्द्र का जीव उनके पवित्र गर्भ में निवास करने लगा। वह महादेवी भगवान् ऋषभदेव के दिव्य प्रभाव से उत्पन्न हुए गर्भ को धारण कर रही थी। यही कारण था कि वे अपने ऊपर आकाश में चलते हुए सूर्य को भी सहन नहीं करती थीं। गर्भस्थ वीरपुत्र के प्रभाव से वे अपने मुख की कांति को तलवार रूपी दर्पण में देखती थीं। ये यशस्वती देवी, जिसके गर्भ में रत्न भरे हुए हैं, ऐसी भूमि के समान, जिसके मध्य में फल लगे हुए हैं, ऐसी बेल के समान अथवा जिसके मध्य में देदीप्यमान सूर्य छिपा हुआ है, ऐसी पूर्व दिशा के समान अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रही थीं। मणियों से जड़ी हुई पृथ्वी पर स्थिरता पूर्वक पैर रखकर मंदगति से चलती हुईं ये यशस्वती, यह पृथ्वी हमारे भोग के लिए है, ऐसा मानकर ही मानों उस पर मुहर लगाती जाती थीं।

गर्भ के बढ़ते रहने पर भी उनके उदर का बली भंग नहीं हुआ था, सो मानों यही सूचित कर रहा है कि इनका पुत्र अभंग, नाशरहित दिग्विजय प्राप्त करेगा।

जैसे-जैसे गर्भ बढ़ने लगा, वैसे-वैसे ही उन्हें उत्कृष्ट दोहले होने लगे, आहार में रुचि मंद पड़ गई, इत्यादि गर्भ के चिन्ह देखकर माता मरुदेवी प्रसन्न हो रही थीं। महाराज नाभिराज भी पोते के जन्म की प्रतीक्षा कर रहे थे और तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव का मन भी प्रसन्न हो रहा था।

क्रम से नव महीने व्यतीत हो जाने पर यशस्वती महादेवी ने

देदीप्यमान तेज से परिपूर्ण महापुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। भगवान् ऋषभदेव के जन्म के समय जो शुभ दिन, शुभ लग्न, शुभ योग, शुभ चन्द्रमा और शुभ नक्षत्र आदि पड़े थे, वे शुभ दिन आदि उस समय भी थे अर्थात् उस समय चैत्र कृष्णा नवमी का दिन, मीन लग्न, ब्रह्मयोग, धनराशि का चन्द्रमा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र था। वह पुत्र अपनी दोनों भुजाओं से पृथ्वी का आलिंगन कर उत्पन्न हुआ था।

पुत्र जन्म का समाचार सुनते ही निमित्तज्ञानियों ने कहा—

''यह पुत्र अपनी भुजाओं से पृथ्वी का आलिंगन करते हुए जन्मा है अत: यह समस्त छह खण्ड पृथ्वी का सम्राट् चक्रवर्ती होगा।''

जिस प्रकार चन्द्रमा का उदय होते ही समुद्र अपनी बेला सहित वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार उस बालक के दादा-दादी महाराज नाभिराज और मरुदेवी दोनों परम हर्ष की वृद्धि को प्राप्त हुए थे। अधिक हर्ष से गद्गद हो पति-पुत्रवती स्त्रियाँ कह रही थीं—

''हे यशस्वती महादेवि! तुम इसी प्रकार सैकड़ों पुत्र उत्पन्न करो।'' उसी क्षण राजमहल में करोड़ों प्रकार के मंगल बाजे बजने लगे। तुरही, दुंदुभि, झल्लरी, शहनाई, सितार, शंख, काहल और ताल आदि अनेक बाजे उस समय मानों हर्ष से ही शब्द कर रहे थे। उस समय देवगण आकाश से पुष्पवृष्टि कर रहे थे। कल्पवृक्षों के पुष्पों की सुगंधि से युक्त, जल के कणों से मिश्रित, सुकोमल और मन्द-मन्द हवा चल रही थी। उसी समय आकाश में स्थित होकर देवगण और देवियां कह रही थीं—

''हे पुत्र! तुम जयशील होवो, चिरंजीव रहो। नंद-नंद, वर्धस्व-वर्धस्व, जय-जय, चिरंजीव-चिरंजीव।''

राजांगण में अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। सारी अयोध्या नगरी की

प्रजा ने उत्सव मनाना प्रारंभ कर दिया। गलियों को चंदन के जल से सिंचित कर जहाँ-तहाँ रत्नों के चूर्ण से सुन्दर-सुन्दर चौक बनाये गये। तोरणद्वार बाँधे गये और मंगल चौक बनाकर उन पर सुवर्ण के मंगलघट और प्रत्येक मंगलघटों पर कमल के पुष्प रखे गये थे।

उस समय दादा नाभिराज ने सभी को मुँहमाँगा दान दिया था। स्वयं तीर्थंकर महाराज ऋषभदेव अपने हाथों से रत्नों की धारा बरसा रहे थे। उस समय प्रेम से भरे हुए समस्त बंधुओं ने बड़े हर्ष से समस्त भरत क्षेत्र के अधिपति होने वाले उस पुत्र को 'भरत' इस नाम से पुकारा था। इतिहास के जानकारों का यह कहना है कि जहाँ अनेक आर्य पुरुष रहते हैं ऐसा यह हिमवान् पर्वत से लेकर समुद्रपर्यंत का चक्रवर्तियों का क्षेत्र उसी 'भरत' के नाम के कारण 'भारतवर्ष' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ है।[१]

(२)

माता यशस्वती के स्तन का पान करता हुआ वह भरत जब कभी दूध के कुरले को बार-बार उगलता था, तब ऐसा लगता था कि मानों वह अपना यश ही दिशाओं में बाँट रहा है। वह बालक कभी मंद-मंद मुस्कराता, कभी मनोहर हास करना, माता-पिता की गोद में खेलता हुआ उनके साथ-साथ सारे परिवार व प्रजा को हँसाता रहता था। जब

---

१. प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बंधुता तदा।
तमाह्वद् भरतं भावि समस्तभरताधिपम् ।।१५८।।
तन्नाम्ना भारतं वर्षमिति हासीज्जनास्पदं।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ।। १५९।।
(आदिपुराण, पर्व १५)

वह धीरे-धीरे मणिमयी भूमि पर चलने लगा और अव्यक्त मधुर बोली बोलने लगा, तब माता-पिता और दादा-दादी के बहुत ही अद्भुत प्यार को प्राप्त करने लगा। जैसे-जैसे बालक बढ़ रहा था, वैसे-वैसे ही उसके स्वाभाविक गुण भी बढ़ रहे थे।

विधि को जानने वाले तीर्थंकर ऋषभदेव ने अनुक्रम से उस पुत्र के अन्नप्राशन (पहली बार अन खिलाना), चौल (मुंडन) और उपनयन (यज्ञोपवीत) आदि संस्कार स्वयं किये थे। अनंतर भरत ने क्रम से बाल्यकाल व्यतीत कर किशोरावस्था में प्रवेश किया।

इस भरत का अपने पिता तीर्थंकर ऋषभदेव के समान ही गमन था, उन्हीं के समान तीनों लोकों को उल्लंघन करने वाला देदीप्यमान शरीर था और उन्हीं के समान मंदहास्य था। इस भरत की वाणी, कला, विद्या, द्युति, शील और विज्ञान सब कुछ वही थे जो कि उसके पिता प्रभु ऋषभदेव के थे। इस प्रकार पिता के साथ तन्मयता को प्राप्त हुए भरत को देखकर उस समय प्रजा के लोग कहा करते थे—

"अहो! आत्मा वै पुत्रनामासीत्—पिता की आत्मा ही पुत्र नाम से कहा जाता है, यह बात बिल्कुल सच है।"

वह भरत पन्द्रहवें मनु भगवान ऋषभदेव के मन को भी अपने प्रेम के अधीन कर लेता था, इसलिए लोग कहते थे—

"यह भरत सोलहवाँ मनु ही उत्पन्न हुआ है।"

इस युग की आदि में जब भोगभूमि का अंत होने वाला था, तब चौदहवें 'मनु' नाभिराज उत्पन्न हुए थे, ये अंतिम कुलकर थे। इनकी महारानी का नाम मरुदेवी था। इन्द्र ने स्वयं इन दम्पत्ति की पूजा की थी। इनके तीर्थंकर ऋषभदेव पुत्र हुए थे। इन्होंने भी प्रजा को असि-मसि

आदि क्रियाओं का उपदेश देकर और वर्ण व्यवस्था बनाकर सभी मनुष्यों को जीवन जीने की कला सिखाई थी, इसलिए प्रजा इन्हें 'पन्द्रहवें मनु', प्रजापति, युगस्रष्टा, आदि ब्रह्मा, विधाता, युगादिपुरुष आदि नामों से पुकारती थी। इन्द्र ने पिता की अनुमति लेकर यशस्वती और सुनंदा कन्या से प्रभु का विवाह कराया था। उन यशस्वती रानी के वे भरत पुत्र थे।

कुण्डल, हार, मुकुट, भुजबंध, अंगूठी आदि अनेक अलंकारों से अलंकृत ये भरत सूर्य के समान तेजस्वी थे। इनके कंधे पर यज्ञोपवीत लटक रहा था, सो ऐसा मालूम पड़ता था कि हिमाचल पर्वत गंगा नदी के प्रवाह को धारण कर रहा है। उनके चरण-कमलों में चक्र, छत्र, तलवार, दण्ड आदि चौदह रत्नों के चिन्ह बने हुए थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानों ये चौदह रत्न लक्षणों के बहाने भावी चक्रवर्ती की पहले से ही सेवा कर रहे हैं।

केवल उनके चरणों का पराक्रम समस्त पृथ्वीमंडल पर आक्रमण करने वाला था, फिर भला उन स्वाभिमानी भरत के सम्पूर्ण शरीर के पराक्रम को कौन सहन कर सकता था? उनके शरीर संबंधी बल का वर्णन इतने से ही समझो कि वे चरमशरीरी हैं, इसी भव से मोक्ष जायेंगे और आत्मा संबंधी बल का वर्णन दिग्विजय आदि से जाना जायेगा। चक्रवर्ती के क्षेत्र में रहने वाले समस्त मनुष्य और देवों में जितना बल होता है, उससे कई गुना अधिक बल चक्रवर्ती की भुजाओं में था। सत्य, शौच, क्षमा, त्याग, प्रज्ञा, उत्साह, दया, दम, प्रशम और विनय ये गुण सदा उनके साथ-साथ रहते थे। सुन्दर शरीर, निरोगता, ऐश्वर्य , धन-सम्पत्ति, सुन्दरता, बल, आयु, यश, बुद्धि, सर्वप्रिय वचन और चतुरता

आदि इस संसार में जो भी ये सुख के कारण हैं, वे सब अभ्युदय कहलाते हैं। ये सब महान् पुण्य के उदय से ही प्राप्त होते हैं।

जिन्हें आर्हंत्य लक्ष्मी प्राप्त होने वाली हैं, ऐसे तीर्थंकर ऋषभदेव नेत्रों को आनन्ददायी, अत्यन्त सुन्दर और असाधारण भरत के मुख को देखते हुए परम संतोष को प्राप्त होते थे, कानों को सुख देने वाले विनय सहित भरत के मधुर वचनों को सुनकर प्रसन्न होते थे और प्रणाम करके खड़े हुए भरत का बार-बार आलिंगन कर उन्हें अपनी गोद में बिठाते हुए परम आनन्द का अनुभव करते थे।

(३)

तीर्थंकर ऋषभदेव की द्वितीय रानी सुनन्दा ने अद्वितीय पुत्र कामदेव को जन्म दिया। इस बालक के शरीर की कांति मरकत मणि के समान हरे वर्ण की थी। ऋषभदेव की अनुमति लेकर महाराज नाभिराय ने इस पोते का नाम 'बाहुबली' रखा। महारानी यशस्वती ने भरत पुत्र के अनन्तर क्रम से वृषभसेन, अनन्तविजय, अनन्तवीर्य, अच्युत् वीर और वरवीर आदि निन्यानवे पुत्रों को जन्म दिया पुनः एक कन्या को जन्म दिया, भगवान् आदि ब्रह्मा की पुत्री होने से जिसका नाम 'ब्राह्मी' रखा गया। द्वितीय रानी सुनन्दा ने भी एक पुत्री को जन्म दिया, जिसको 'सुन्दरी' कहकर पुकारा गया। इस तरह श्री ऋषभदेव की प्रथम रानी यशस्वती से भरत, वृषभसेन आदि सौ पुत्र और एक पुत्री तथा द्वितीय रानी सुनन्दा से कामदेवरूप बाहुबली और एक पुत्री सुन्दरी, ऐसे एक सौ एक पुत्र और दो पुत्रियाँ हुई थीं।

महाराजा नाभिराज और महारानी मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव, पुत्रवधू यशस्वती देवी, सुनन्दा देवी, पौत्र भरत-बाहुबली आदि तथा

पौत्री ब्राह्मी, सुन्दरी इन सबके मध्य रहते हुए अनुपम सुख का अनुभव कर रहे थे। इन बालक–बालिकाओं के रूप और गुणों का वर्णन साक्षात् बृहस्पति गुरु भी करने में असमर्थ थे, तो साधारण मनुष्यों की भला क्या बात? जैसे भरत अपने पिता ऋषभदेव की समानता को धारण कर रहे थे, ऐसे ही बाहुबली भी पिता के समान दिख रहे थे। इन्हें लोग मनोभव, मानोज, मनोभू, मन्मथ, अंगज, मदन और अनन्यज आदि नामों से सम्बोधित किया करते थे।

प्रभु ऋषभदेव ने अपने इन सभी बालकों के अन्नप्राशन, मुंडन, यज्ञोपवीत आदि सभी संस्कार स्वयं किये थे। इन सभी के लिए सुन्दर–सुन्दर हार, मुकुट, कंकण, बाजूबंद, करधनी, नूपुर, मुद्रिका आदि आभूषण भी स्वयं ही बनवाये थे। भरत के कण्ठ में इन्द्रच्छद हार शोभता था, तो बाहुबली के कण्ठ में विजयच्छन्द हार उनकी अपूर्व सुन्दरता को निखार रहा था। अन्य सभी पुत्रों ने देवच्छन्द हार पहना था और ब्राह्मी–सुन्दरी ने अपने–अपने गले में नक्षत्रमाला पहनकर गगन मंडल की भी शोभा को जीत लिया था। इस कर्मयुग की आदि में भगवान् ऋषभदेव द्वारा बनवाये गये आभूषणों को धारण कर तेजस्वी भरत तो सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे, युवा बाहुबली चन्द्रमा के समान तथा शेष राजपुत्र ग्रह, नक्षत्र तथा तारागण के समान थे। इन राजपुत्रों में ब्राह्मी दीप्ति के समान और सुंदरी चांदनी के समान दिख रही थीं। इन सभी पुत्र–पुत्रियों से घिरे हुए प्रभु ऋषभदेव ज्योतिषी देवों से घिरे हुए ऊँचे सुमेरुपर्वत की तरह सुशोभित हो रहे थे। ये सभी बालक किशोरावस्था को पार कर युवावस्था में प्रवेश कर रहे थे और ब्राह्मी–सुंदरी किशोरावस्था में आ चुकी थीं।

एक दिन ये दोनों कन्याएँ मांगलीक वेश–भूषा को पहनकर अपने पिता के निकट पहुँचीं। पिता ऋषभदेव सिंहासन पर आरूढ़ थे। दोनों पुत्रियों ने बहुत ही विनय से पूज्य पिता को पंचांग प्रणाम किया। पिता ने भी शुभाशीर्वाद देते हुए बड़े प्यार से दोनों कन्याओं को अपनी गोद में बिठा लिया। कुछेक क्षण हास्य विनोद करने के पश्चात् प्रभु ने स्वयं उन दोनों को अक्षरलिपि और गणितविद्या को पढ़ाना शुरू किया। उसी समय से इन दोनों कन्याओं के निमित्त से ही ब्राह्मीलिपि और अंक–विद्या का प्रचलन हुआ है। तत्पश्चात् प्रभु ने अपने पुत्र भरत, बाहुबली, वृषभसेन आदि को भी विद्या अध्ययन कराया। कुछ ही दिनों में भगवान् ने अपने पुत्र–पुत्रियों को सर्वविद्या और सर्वकला में पारंगत कर दिया।

तीर्थंकर ऋषभदेव ने इस युग की आदि में सर्वप्रथम अपने बड़े पुत्र भरत को राजनीति का सर्वोत्तम ज्ञान कराया। उन्हें बड़े–बड़े अध्यायों से स्पष्ट कर अर्थशास्त्र और संग्रहप्रकरण सहित नृत्यशास्त्र भी पढ़ाया। इस विषय में अधिक कहने से क्या प्रयोजन! संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि लोक का हित करने वाले जो–जो शास्त्र थे। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव सर्वविद्याओं को बाहर रूप में प्रकट कर और भी अधिक अपने अद्भुत तेज को समस्त दिशाओं में बिखेर रहे थे। इन पुत्र–पुत्रियों से घिरे हुए प्रभु का बीस लाख पूर्व वर्षों का कुमार काल कैसे व्यतीत हो गया, कुछ पता ही नहीं चल सका।

इसी बीच में काल के प्रभाव से महौषधि, दीप्तौषधि तथा सब कल्पवृक्ष शक्तिहीन हो गये। तब सब प्रजा व्याकुल चित्त होकर राजदरबार में आई और प्रभु से निवेदन करने लगी—

"हे नाथ! हम सभी लोग जीविका प्राप्त करने की इच्छा से

आपकी शरण में आये हैं। हे देव! जो कल्पवृक्ष पिता के समान हमारी रक्षा करते थे, वे मूलसहित नष्ट हो गये हैं। हे नाथ! भूख-प्यास की तथा गर्मी-सर्दी की बाधा से पीड़ित हुए हम लोग यह नहीं समझ पा रहे हैं कि क्या खायें और कैसे जीवित रहें? हे प्रभु! हमारे ऊपर प्रसन्न होइये और हमारी रक्षा कीजिये।

प्रजा के ऐसे दीन वचन सुनकर भगवान् ऋषभदेव का हृदय दया से आर्द्र हो गया। उन्होंने सोचा कि पूर्व और पश्चिम विदेह में जो स्थिति विद्यमान है, सो ही यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है। जैसी वहाँ असि, मषि आदि छह कर्म की व्यवस्था है और जैसी ग्राम-नगर आदि की रचना है, वैसी ही यहाँ होनी चाहिए तभी यह प्रजा जीवित रह सकती है पुनः प्रभु ने प्रजा को आश्वासन देकर उसी क्षण सौधर्म इन्द्रराज का स्मरण किया। स्मरण मात्र से ही इन्द्रराज अनेक देवों के साथ वहाँ सभा में उपस्थित हो गये और हाथ जोड़कर नमस्कार करके बोले —

"हे देव! क्या आज्ञा है? कहिए!"

भगवान् ने कहा —

"हे इन्द्रराज! विदेह क्षेत्र के समान ही अब यहाँ पर ग्राम-नगर आदि की रचना करना है। जिससे प्रजा सुख से जीवित रह सके क्योंकि अब भोगभूमि का समय समाप्त होकर कर्मभूमि का समय आ गया है।"

भगवान् की आज्ञा पाते ही इन्द्र ने शुभ मुहूर्त में प्रथम मंगल क्रिया पूर्वक अयोध्यापुरी के बीच जिनमंदिर की रचना की पुनः चारों दिशाओं में भी चार जिनमंदिर बनाकर सारे शहर में महल, मकान आदि के निर्माण करा दिये। अनन्तर कौशल, काशी, कुरुजांगल आदि महादेश और अयोध्या, उज्जयिनी, हस्तिनापुरी आदि नगरों की रचना करके प्रजा

को यथास्थान बसा दिया। इस प्रकार प्रभु को प्रसन्नकर उनकी आज्ञा लेकर इन्द्र अपने परिवार सहित स्वर्ग को चले गये।

इसके बाद तीर्थंकर ऋषभदेव ने प्रजा को असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छः कर्मों का उपदेश देकर उन्हें आजीविका करने के उपाय बताये। उस समय भगवान् सारागी ही थे, राज्यावस्था में स्थित थे, वीतरागी नहीं थे अतः उनके लिए यह उचित ही था। प्रभु ने उसी समय क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की। इस प्रकार आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा के दिन कर्मयुग का प्रारंभ कर भगवान् युगादिपुरुष, प्रजापति, आदि ब्रह्मा, विधाता और सृष्टा आदि नाम से पुकारे जाने लगे।

कुछ समय बाद इन्द्र ने आकर महाराज नाभिराज से आज्ञा लेकर प्रभु ऋषभदेव का सम्राट पद पर अभिषेक करके उनकी विशेष पूजा की। प्रभु ने इस पृथ्वी का पालन करते हुए राज्य व्यवस्था स्थापित करने के लिए हरि, अकंपन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार महाभाग्यशाली क्षत्रियों को बुलाया। उन चारों का राज्याभिषेक कर उन्हें महामण्डलीक राजा बनाया। ये राजा चार हजार अन्य छोटे-छोटे राजाओं के अधिपति थे। तीर्थंकर प्रभु ने सोमप्रभ को कुरुवंश का शिरोमणि बनाकर हस्तिनापुर राजधानी में रहकर राज्य करने का आदेश दिया। हरि को हरिवंश को अलंकृत करने वाला "हरिकांत" नाम दिया, "अकंपन" को नाथवंश का नायक प्रसिद्ध किया और "काश्यप" को मघवा नाम देकर उग्रवंश का तिलक घोषित किया। अनंतर प्रभु ने कच्छ, महाकच्छ आदि प्रमुख-प्रमुख क्षत्रियों का सत्कार कर उन्हें अधिराज के पद पर स्थापित किया। इसी प्रकार उन्होंने अपने पुत्रों के लिए भी यथायोग्य रूप से महल,

सवारी तथा अन्य अनेक प्रकार की संपत्ति का विभाग कर दिया। उस समय भगवान ने मनुष्यों को इक्षु का रस निकालने का उपदेश दिया था, इसलिए जगत् के लोग उन्हें "इक्ष्वाकु" कहने लगे थे।

इस प्रकार बहुत काल तक भगवान् ने राज्य संचालन करते हुए प्रजा को सुख से जीने की कला सिखायी थी।

अनंतर किसी दिन भगवान् सैकड़ों राजाओं के मध्य विशाल सभा मंडप में राज्य-सिंहासन पर विराजमान थे। उसी समय इन्द्र अनेक अप्सराओं, देवों और देवियों के साथ पूजा की सामग्री साथ लेकर वहाँ आ गये। भक्ति विभोर हुए इन्द्र ने भगवान् की आराधना करने की इच्छा से अप्सराओं और गन्धर्वों का नृत्य कराना प्रारंभ कर दिया। जहाँ इन्द्र स्वयं सूत्रधार हो, प्रभु ऋषभदेव आराध्य देव हों, अनेक गन्धर्व देव वीणा आदि बाजे बजा रहे हों और स्वर्ग की अप्सरा नीलाँजना नृत्य कर रही हो, वहाँ के रमणीय दृश्य का भला कौन वर्णन कर सकता है? नृत्य का सुन्दर कार्यक्रम चल रहा था। सारी सभा एकाग्र हो देख रही थी। इसी बीच में अकस्मात् नीलाँजना की मृत्यु हो गई। वह एक क्षण में अदृश्य हो गई किन्तु रंग में भंग न हो सके, ऐसा सोचकर इन्द्र ने उसी क्षण वैसी ही दूसरी अप्सरा वहाँ खड़ी कर दी। नृत्य ज्यों का त्यों चालू रहा, कोई कुछ भी नहीं समझ सका परन्तु तीन ज्ञानधारी जगद्गुरु भगवान् ऋषभदेव ने उसी क्षण सब कुछ समझ लिया। उन्हें उसी क्षण वैराग्य हो गया, वे मन में विचार करने लगे—

"अहो! यह जीवन बिजली के समान क्षणभंगुर है! जगत् में यह यौवन, शरीर, धन, आरोग्य और ऐश्वर्य सभी जल के बुदबुदे के समान हैं।"

भगवान् वैराग्य का चिंतवन कर ही रहे थे कि पाँचवे स्वर्ग से

लौकांतिक देव आ गये। वे भगवान् के वैराग्य भाव की प्रशंसा करने लगे और कल्पवृक्षों के फूलों से प्रभु के चरणों की पूजा कर उनकी स्तुति करने लगे। इसी बीच सौधर्म इन्द्र अगणित देवों के साथ भगवान् के दीक्षा महोत्सव को मनाने के लिए तैयार हो गये।

प्रभु ने अपने बड़े पुत्र भरत को अयोध्या के राज्यपद पर अभिषिक्त कर प्रजा को सनाथ किया। बाहुबली आदि पुत्रों को भी यथायोग्य राज्य, देश, नगर देकर आप स्वयं महाराजा नाभिराज आदि से आज्ञा लेकर पालकी पर आरूढ़ हो सिद्धार्थ वन में पहुँचे। वहाँ पर देवों द्वारा की गई पूजा के बाद अपने वस्त्र-आभूषण उतार कर "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" मंत्र के उच्चारणपूर्वक अपने केशों का लोच कर निर्ग्रंथ दिगम्बर महामुनि हो गये। उस समय भगवान ने छह महीने का योग धारण कर लिया और निश्चल ध्यान में लीन हो गये। प्रभु की भक्ति से कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजाओं ने भी वैसे ही नग्नमुद्रा धारण कर ली पुनः दीक्षा कल्याणक महोत्सव मनाकर इन्द्र आदि अपने-अपने स्थान पर चले गये और भरत, बाहुबली आदि अयोध्या नगर में वापस आ गये।

(४)

तीर्थंकर ऋषभदेव निर्ग्रंथ मुनिवेश में ध्यान में निश्चल खड़े हो गये थे और छह महीने का योग धारण कर लिया था, सो अभी प्रभु को दो-तीन माह भी नहीं हुए थे कि उनके साथ में बिना समझे-बूझे दीक्षा लेने वाले चार हजार राजा भूख-प्यास से व्याकुल हो उठे। वे सब आपस में विचार करने लगे—

"अहो! गुरुदेव भगवान् ऋषभदेव कब तक खड़े रहेंगे? कब वापस अयोध्या चलेंगे? कौन जाने? इनका धैर्य तो अचिन्त्य है, इन्हें छोड़कर भला ऐसा कौन है जो इस तरह निश्चल मुद्रा में खड़े होकर इतने दिनों तक ध्यान कर सके? अब क्या करना? यदि हम लोग वापस अपने-अपने घर जाते हैं, तो महाराज भरत हमें दंडित करेंगे।"

वे सभी अपने को मुनि मानने वाले बेचारे किंकर्तव्यविमूढ़ हो वहीं जंगल के फल खाने लगे और झरने का पानी पीने लगे। ऐसा देखकर वन देवता ने कहा—

"हे मूर्खों! यह दिगम्बर रूप सर्वश्रेष्ठ है, अरिहंत तथा चक्रवर्ती आदि महापुरुष ही इसे धारण करते हैं। इसे तुम लोग कायरता का स्थान मत बनाओ। अपने हाथ से फल लेकर मत खाओ, इस तरह झरने का पानी मत पिओ।"

इतना सुनकर वे नग्नमुद्रा में वैसा करने से डर गये। तब आपस में विचार-विमर्श करके किसी ने वल्कल पहना, किसी ने पत्तों की लंगोटी लगाई, किसी ने जटायें बढ़ा लीं और किसी ने भस्म आदि लपेट ली। इस तरह उन लोगों ने अनेक वेश बनाकर फूस की झोंपड़ियाँ बनाईं और वहीं पर रहने लगे। ये सभी भ्रष्ट तापसी वहीं पर भगवान ऋषभदेव के चरणों की पूजा करते थे और मनचाही प्रवृत्ति कर रहे थे। इनमें से भरत राजा का पुत्र मरीचि कुमार सब तापसियों में मुखिया बन गया और उसने पारिव्राजक का वेश बना लिया। उस समय उन सभी ने मिलकर तीन सौ त्रेसठ पाखंडमत चला दिये।

जब भगवान् का छह महीने का योग पूर्ण हुआ, तब वे यतियों की चर्या बतलाने के उद्देश्य से और शरीर की स्थिति को रखने के लिए

आहार हेतु शहर की ओर चल पड़े। उस समय दिगम्बर जैन मुनियों को किस विधि से आहार देना? यह किसी को विदित ही नहीं था अतः कुछ लोग तीर्थंकर ऋषभदेव को शहर में विचरण करते हुए देख उनके सामने रत्नों से भरे थाल, हाथी, घोड़े, पालकी, रथ आदि लाकर कहने लगे—

"प्रभो! इन्हें स्वीकार कीजिए और घर चलकर स्नान करके भोजन ग्रहण कीजिए।"

भगवान् अंतराय समझकर वहाँ से आगे निकल जाते थे। इस तरह भगवान् का पुनः छह महीने का समय और निकल गया।

एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के भाई श्रेयांसकुमार ने सुमेरुपर्वत, कल्पवृक्ष आदि उत्तम-उत्तम सात स्वप्न देखे। पुरोहित से पूछने पर उसने कहा—

"राजकुमार! जिनका सुमेरुपर्वत पर अभिषेक हुआ है, ऐसे महापुरुष आज आपका आतिथ्य स्वीकार करेंगे।" इतने में ही द्वारपाल ने आकर कहा—

"राजाधिराज ! महायोगिराज भगवान् ऋषभदेव अपने महल की ओर आ रहे हैं।"

इतना सुनते ही द्वारपाल को पुरस्कार देकर दोनों भाई हर्ष-विभोर हो प्रभु के स्वागत के लिए बाहर आ गये। भगवान् का दर्शन करते ही राजकुमार श्रेयांस को आठ भव पूर्व का जातिस्मरण हो गया। उन्होंने आठ भव पूर्व रानी श्रीमती की पर्याय में अपने पति राजा वज्रजंघ के साथ चारण-ऋद्धिधारी मुनियों को आहार दिया था। इससे दिगम्बर मुनि की आहार विधि ज्ञात हो जाने से दोनों भाइयों ने बड़ी भक्ति से प्रभु का पड़गाहन कर उन्हें इक्षुरस का आहार दिया। उस समय आकाश से

देवों ने रत्नवर्षा आदि पंचाश्चर्य की वर्षा की। उस दिन वैशाख शुक्ला तृतीया थी, जो कि आज भी उसी निमित्त से 'अक्षयतृतीया' के नाम से प्रसिद्ध पवित्र, पूज्य, उत्तम दिवस माना जाता है।

राजा भरत ने जब यह समाचार सुना, तब वे स्वयं वहाँ हस्तिनापुर आये और राजा श्रेयांस से पूछने लगे—

"हे बन्धु! आपने भगवान् के मन की बात कैसे जान ली?" तब राजा श्रेयांस ने उन्हें विस्तारपूर्वक आठ भव पूर्व का सारा इतिहास सुनाया। राजा भरत अपने, भगवान् के और श्रेयांस के साथ अनेकों भवों से चले आये संबंध को सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए। अनंतर उन्होंने कहा—

"हे श्रेयांस कुमार! जैसे भगवान् ऋषभदेव धर्मतीर्थ के प्रवर्तक धर्मतीर्थंकर हैं, वैसे ही आप दानतीर्थ के प्रवर्तक हुए हैं क्योंकि दान के बिना मोक्षमार्ग चल नहीं सकता है और आपने इस युग के प्रारंभ में सर्वप्रथम आहार दान की विधि को प्रगट किया, "इसलिए आप भी महान् हैं।" इस प्रकार श्रेयांस कुमार की प्रशंसा कर उनका बहुत प्रकार से सम्मान कर राजा भरत अपनी अयोध्या नगरी वापस आ गये।

इधर भगवान् ऋषभदेव के तपस्या करते हुए हजार वर्ष व्यतीत हो गये।

(५)

भरत महाराज अपने राज्य सिंहासन पर सुखपूर्वक बैठे हुए थे कि एक साथ तीन संदेशवाहकों ने आकर तीन समाचार सुनाये। धर्माधिकारी पुरुष ने कहा—

"राजाधिराज! पूज्य पिता भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान प्रगट हुआ है। देवों ने अर्धनिमिष मात्र में ही समवसरण की रचना कर दी है,

भगवान् उसमें कमलासन पर अधर विराजमान हैं।"

आयुधशाला के रक्षक पुरुष ने कहा—

"प्रभो! आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है। उसकी दिव्य किरणों से सारी दिशाएँ चमक रही हैं।"

महल के कंचुकी ने कहा—

"हे देव! अंतःपुर में पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ है जिसने अपने तेज से दिशाओं को आलोकित कर दिया है।"

भरत महाराज ने एक साथ तीनों समाचार सुने, तत्क्षण ही उठकर, जिधर भगवान् का समवसरण था, उस दिशा में सात पैंड आगे बढ़कर बहुत ही भक्ति से प्रभु को परोक्ष में ही नमस्कार किया पुनः एक क्षण व्याकुल से होकर सोचने लगे—

"पुण्यतीर्थ पूज्यपिता को केवलज्ञान उत्पन्न होना, चक्ररत्न का प्रगट होना और पुत्र की उत्पत्ति होना ये तीनों ही धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्ग के फल मुझे एक साथ प्राप्त हुए हैं। इनमें से भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न होना यह धर्म का फल है, देदीप्यमान चक्र का प्रगट होना अर्थ प्राप्त कराने वाले अर्थ पुरुषार्थ का फल है और पुत्र का उत्पन्न होना यह काम का फल है अथवा यह सभी धर्मपुरुषार्थ का पूर्ण फल है क्योंकि अर्थ धर्मरूपी वृक्ष का फल है और काम उसका रस है।"

पुनः सोचने लगे—

"अब मुझे पहले कौन सा कार्य करना चाहिए?"

पुनरपि अगले क्षण स्वयं ही निर्णय ले लिया कि—

"सर्व कार्यों में सबसे पहले धर्म कार्य ही करना चाहिए क्योंकि वह सर्वकल्याणों को प्राप्त कराने वाला है और बड़े-बड़े फल देने वाला है।

इसलिए सर्वप्रथम जिनेन्द्रदेव भगवान् की पूजा ही करनी चाहिए।"

इस प्रकार राजाओं के इन्द्र—राजेन्द्र भरत ने भगवान् की वंदना के लिए आनन्द भेरी बजवा दी। अपने अंतःपुर की रानियों, छोटे भाइयों और अनेक प्रमुख लोगों के साथ प्रस्थान कर दिया। विशाल सेना से घिरे हुए महाराज भरत भगवान् के समवसरण में जा पहुँचे। वे सबसे पहले समवसरण भूमि की प्रदक्षिणा देकर मानस्तंभों की पूजा करते हुए आगे बढ़े, वहाँ क्रम-क्रम से परिखा, लताओं के वन, कोट, चार वन और दूसरे कोट को उल्लंघन कर ध्वजाओं को, कल्पवृक्षों की पंक्तियों को, स्तूपों को और मकानों के समूहों को देखते हुए आश्चर्य को प्राप्त हुए। अनन्तर द्वारपाल देवों ने उन्हें अन्दर प्रवेश कराया। तब भरत ने भगवान् के श्रीमण्डप की शोभा देखी पुनः आगे बढ़कर प्रथम पीठिका पर पहुँचकर प्रदक्षिणा देते हुए चारों ओर धर्मचक्रों की पूजा की। द्वितीय पीठ पर स्थित ध्वजाओं की पवित्र सुगन्ध आदि द्रव्यों से पूजा की। अनंतर तृतीय पीठ के ऊपर गंधकुटी के बीच में महामूल्य श्रेष्ठ सिंहासन पर स्थित सर्व ऋद्धियों के स्वामी केवलज्ञानरूपी सूर्य से देदीप्यमान भगवान् ऋषभदेव का दर्शन किया। आठ प्रातिहार्यों से शोभायमान जगत् के गुरु भगवान् की अतिशय भक्ति से तीन प्रदक्षिणाएँ देकर भरत ने उत्तम-उत्तम अष्टद्रव्य सामग्री से पूजा की। अनन्तर अनेक स्तोत्र वचनों से प्रभु की स्तुति करके बोले—

"हे भगवन् ! आप लोकोत्तर वैभव को धारण कर रहे हैं। आपकी स्तुति कर हम यही याचना करते हैं कि हमारी बहुत भारी भक्ति आपके श्रीचरणों में ही रहे, इसके सिवाय हम और कुछ नहीं चाहते हैं।"

इस प्रकार स्तुति, वंदना के बाद भरत महाराज अपने योग्य

मनुष्यों के कोठे में जाकर बैठ गये।

वहाँ पर उसी पुरिमतालपुर के राजा वृषभसेन, जो कि भरत के छोटे भाई थे, वे सपरिवार आये। प्रभु की वंदना पर प्रबोध को प्राप्त हुए उन्होंने उसी क्षण भगवान् से जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और अन्तर्मुहूर्त में ही अनेक ऋद्धियों से सहित होकर भगवान् के प्रथम गणधर हो गये। उसी समय कुरुवंश शिरोमणि महाराज सोमप्रभ और श्रेयांसकुमार भी जैनेश्वरी दीक्षा लेकर भगवान् के गणधर हो गये। उसी समय अनेक राजाओं ने भी मुनि दीक्षा ली थी।

भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी प्रभु से सर्वप्रथम आर्यिका दीक्षा लेकर देवों द्वारा पूजा को प्राप्त हुई। ऋषभदेव भगवान् की द्वितीय पुत्री—बाहुबली की बहन सुन्दरी भी आर्यिका दीक्षा लेकर शोभित होने लगी। इसी समय अनेक राजकन्याओं ने भी आर्यिका दीक्षा ले ली। उन सब आर्यिकाओं में प्रधान ये ब्राह्मी आर्यिका उस समवसरण में गणिनीपद से अलंकृत होकर अतिशय शोभा को धारण कर रही थीं।

जब उस समवसरण में सभी भव्य जीव अपनी-अपनी सभा में यथायोग्य स्थान पर बैठ गये, तब सभी हाथ जोड़कर भगवान् की दिव्यध्वनि को सुनने के लिए उत्सुक हो गये, उस समय भरत महाराज ने विनय से मस्तक झुकाकर प्रीतिपूर्वक ऐसी प्रार्थना की—

"हे भगवन् ! तत्त्वों का स्वरूप क्या है? मार्ग क्या है? और उसका फल भी क्या है? यह सब मैं आप से सुनना चाहता हूँ।"

उस समय भगवान् ऋषभदेव की अतिशय गंभीर दिव्यध्वनि खिरने लगी। उस दिव्यध्वनि के निकलते समय प्रभु के मुख पर किंचित् मात्र भी विकार, हलन-चलन या परिवर्तन नहीं हुआ। न भगवान् के

तालु, ओंठ आदि स्थान से ही हिले और न उनके मुख की कांति ही बदली। जो अक्षर प्रभु के मुख से निकल रहे थे, वे इन्द्रियों पर आघात किये बिना ही निकल रहे थे। भगवान् की वह वाणी बिना इच्छा के ही निकल रही थी। भगवान् कहने लगे—

"हे आयुष्मान् ! जीवादि पदार्थों का यथार्थस्वरूप ही तत्त्व है। इसके सामान्य से दो भेद हैं—जीव और अजीव तथा विस्तार से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे छह भेद हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों की एकता ही मार्ग है, वही मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है और मोक्ष को प्राप्त कर लेना, सर्व कर्मों से छूटकर शाश्वत सुख को प्रकट कर लेना, यही इस मार्ग का फल है।"

इन सबको विस्तार से कहते हुए प्रभु ने पाँच अस्तिकाय, चौदह गुणस्थान, जीवसमास और मार्गणाओं का उपदेश दिया। स्वर्ग, नरक तथा मध्यलोक को विस्तार से समझाते हुए जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र आदि का भी वर्णन किया।

भगवान् की दिव्यध्वनि को सुनकर अनेक राजाओं ने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। अनेक लोगों ने श्रावक धर्म ग्रहण कर लिया। जो चार हजार तपस्वी प्रभु के साथ दीक्षा लेकर भ्रष्ट हो गये थे, उनमें से मरीचि को छोड़कर बाकी सब तपस्वी, भगवान् के समीप संबोधन पाकर फिर से नग्न दिगम्बर दीक्षा लेकर तपस्या करने लगे।

भरत महाराज भगवान् का दिव्य उपदेश सुनकर तृप्त होते हुए भगवान् की बार-बार वंदना कर समवसरण से बाहर आये और अपने अंतःपुर की रानियों, भाइयों तथा सेना समेत अयोध्या की ओर प्रस्थान कर दिया।

मंगल वाद्यध्वनि के साथ अयोध्या में प्रवेश कर विधिपूर्वक चक्ररत्न की पूजा की और फिर अनुक्रम से पुत्ररत्न का जन्मोत्सव मनाया। उस समय महाराज भरत ने इतना दान दिया था कि कोई याचक रह ही नहीं गया था। भरत महाराज ने चौराहों में, गलियों में , नगर के भीतर और बाहर सभी जगह रत्नों के ढेर लगाये थे और वे सब याचकों को दे दिये गये थे। उस समय भरत के द्वारा की गई चक्ररत्न की पूजा शत्रुओं के लिए अभिचार-क्रिया सदृश प्रतीत हुई थी और जो पुत्र जन्म का उत्सव हुआ था, वह संसार को शांतिकर्म के लिए जान पड़ता था।

(६)

शरद ऋतु के स्वच्छ वातावरण में महाराज भरत ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने का उद्योग किया। उस समय उन्होंने मांगालिक वस्त्र-अलंकार धारण किये, चांदनी से बने हुए के समान सफेद, बारीक तथा कोमल धोती-दुपट्टा इन दो वस्त्रों को धारण किया। उनके घुटनों तक ब्रह्मसूत्र जनेऊ लटक रहा था। सो ऐसा प्रतीत होता था मानों तट का स्पर्श करता हुआ जो गंगा जल का प्रवाह उससे सहित हिमवान् पर्वत ही हो। उन्होंने कानों में दिव्य कुंडल और मस्तक पर ऊंचा मुकुट पहना था, उनके वक्षस्थल पर कौस्तुभमणि विजयलक्ष्मी का मंगल दीपक ही मालूम पड़ रही थी। उनके सिर के ऊपर सुन्दर छत्र लगाया गया था और अनेक वरांगनायें भरत राज के दोनों तरफ चंवर ढोर रही थीं।

इसके बाद स्थपति (थवई) नाम के रत्न ने एक बड़ा भारी रथ तैयार करके वहाँ सामने लाकर खड़ा कर दिया, उसमें सुवर्ण और मणियों की चित्र-विचित्र प्रकार की शोभा की गई थी। इस रथ के पहिए वज्र से बने हुए थे। इसमें जो घोड़े जुते थे, वे वायु के समान वेगशाली थे।

भावी चक्रवर्ती भरत इन्द्र के समान उस रथ पर आरूढ़ हुए। उसी समय मंगल बाजे बजने लगे और अयोध्या के प्रमुख लोग 'जय-जय कारे' के नारे से भरत का अभिनंदन करने लगे। भरत ने सर्व मंगलाचार करके दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया, उस समय उनका वह राजांगण सेनापतियों से भरा हुआ था। बहुत से मुकुटबद्ध राजागण भरत को नमस्कार करते हुए चारों तरफ से उन्हें घेरे हुए थे। प्रस्थान की मंगल भेरी बजते ही सेना चलने लगी। उस समय ऐसा लग रहा था कि मानों योद्धाओं की कोई एक अपूर्व सृष्टि ही उत्पन्न हुई है।

सबसे पहले पैदल चलने वाले सैनिकों का समूह था, उसके पीछे घोड़ों का समूह था, उसके पीछे रथों का समूह और उसके पीछे हाथियों का समूह था। सारी सेना में पताकायें फहरा रही थीं। भरत महाराज के रथ और सम्पूर्ण सेना के आगे-आगे चक्ररत्न आकाश में चल रहा था। वह सूर्य मंडल के समान अतिशय देदीप्यमान हो रहा था और हजारों देवों से घिरा हुआ था। जिस प्रकार मुनियों का समूह गुरु की इच्छानुसार चलता है, उसी प्रकार निधियों के स्वामी महाराज भरत की वह सेना चक्ररत्न की इच्छानुसार उसके पीछे-पीछे चल रही थी। दण्डरत्न को आगे कर सेनापति सबसे आगे चल रहा था और वह ऊँचे-नीचे दुर्गम वनस्थलों को लीलापूर्वक एक सा करता जाता था।

भरत महाराज अयोध्या के राजमार्ग से निकल रहे थे। उस समय अपने-अपने मकानों के छत पर खड़ी हुई सुवासिनी स्त्रियाँ भरत के ऊपर पुष्पांजलियाँ छोड़ रही थीं और उच्च स्वर में कह रही थीं तथा नगर निवासी लोग भी आशीर्वाद वचन बोल रहे थे —

" हे ईश! आपकी जय हो! हे विजय करने वाले महाराज! आप

संसार की विजय करें, दशों दिशाओं को जीतें। हे राजाधिराज! आपका यह दिग्विजय का प्रस्थान मंगलमय हो।"

इस प्रकार करोड़ों पुण्याशीर्वचनों को सुनते हुए भरत महाराज रत्नों के तोरणों से देदीप्यमान अयोध्या के गोपुर द्वार से बाहर निकले। उस समय वे जिधर भी दृष्टि डालते थे, उधर सेना ही सेना दिखाई पड़ रही थी।

सबसे पहले सम्राट् भरत ने गोपुर द्वार से पूर्व दिशा की ओर मुख कर पूर्व दिशा को जीतने के भाव से पूर्वभाग की ओर प्रयाण कर दिया। वे जैसे-जैसे आगे बढ़ते जा रहे थे, वैसे-वैसे मार्ग में उन्हें अच्छे-अच्छे शकुन दिखते जा रहे थे। अयोध्या के बाहर बगीचों की लताओं से पुष्प स्वयं ही उनके ऊपर पड़ रहे थे, सो मानों उन पर पुष्पांजलि ही छोड़ रहे थे। बड़े-बड़े वृक्ष फलों के भार से झुके हुए भरत महाराज का स्वागत कर रहे थे। कहीं-कहीं लता गृहों में किन्नर जाति के देव वीणा बजाकर भरत महाराज का यशोगान कर रहे थे। आगे बढ़ने पर छोटे-छोटे गाँव दिखने लगे। वहाँ के प्रमुख लोग घी के घड़े, दही के पात्र और अनेक प्रकार के फल भेंट कर उनका दर्शन कर रहे थे।

इस प्रकार कुतूहल से गाँव नगर और बगीचों की शोभा देखते हुए महाराज भरत कितनी ही मंजिलों द्वारा लम्बा मार्ग तय कर गंगा नदी के समीप पहुँच गये। यह गंगा भरत महाराज की कीर्ति के समान सुशोभित हो रही थी। जिस प्रकार भरत की कीर्ति हिमवान् पर्वत से धारण की गई, पूज्य, उत्तम और समुद्र तक गमन करने वाली थी, वैसे ही यह गंगा भी हिमवान् पर्वत से धारण की गयी अर्थात् वहाँ से निकली हुई जिनबिम्ब के ऊपर गिरने से पूज्य, उत्तम और पूर्व लवण समुद्र तक बहने वाली

थी। जिस प्रकार भरत की कीर्ति कल्पांत तक टिकने वाली है, वैसे ही यह गंगा नदी भी कल्पांत काल तक रहने वाली अनादि-अनिधन है तथा जिस प्रकार भरत की राज्य लक्ष्मी पद्म नाम की निधि से उत्पन्न हुई है, वैसे ही यह भी हिमवान् पर्वत के पद्म नाम के सरोवर से निकली हुई है। यह गंगा नदी चौदह हजार परिवार नदियों से सहित होकर बह रही है। ऐसी गंगानदी को भरत महाराज बड़े ही प्रेम से देख रहे थे। तभी उनके सारथि ने कहना शुरू किया —

"हे महाराज! यह गंगा नदी ठीक ऋषभदेव की वाणी के समान संसार को आनन्दित करने वाली, रज को नष्ट करने वाली, गंभीर और निर्मल जल से भरी हुई है। यह सौ योजन (१००×४०००=४०००००) अर्थात् चार लाख मील ऊँचे हिमवान् पर्वत से पृथ्वी पर पड़ी हैं इसलिए इसे ही 'आकाशगंगा' कहते हैं। इस गंगा नदी के दोनों तटों पर वन-बगीचे बने हुए हैं, सो ऐसा मालूम पड़ता है मानो इसने हरे रंग की सुन्दर साड़ी ही पहन रखी हो। इसकी वनवेदिका-इसके बगीचे का परकोटा अत्यन्त ऊँचा सुवर्णमयी है जो कि आपकी आज्ञा के समान अनुलंघनीय है। हे देव! इधर वन पंक्तियों, नदियों और सरोवरों में स्वच्छता को बिखेरती हुई इस शरद ऋतु को देखिये।"

इस प्रकार सारथि के मुख से वन-समृद्धि का वर्णन सुनते हुए भरत सम्राट उस वनभूमि को इस तरह पार कर गये कि उन्हें उसकी लम्बाई का पता भी नहीं चला। सेना के साथ हथिनियों और पालकियों पर बैठी हुई भरत महाराज की रानियाँ भी इस गंगा नदी के तटवर्ती बगीचे की शोभा को बड़े प्रेम से देख रही थीं। मार्ग में योद्धा लोग जल्दी-जल्दी चलते हुए कभी-कभी कोलाहल करते जाते थे।

"हे सैनिकों! चलो-चलो, दौड़ो, देखो! भरत महाराज का रथ बहुत दूर पहुँच चुका है। अरे! हटो-हटो, आगे का मार्ग मत रोको।"

घुड़सवार, महावत लोग कभी-कभी जोर से चिल्लाते हुए अपने आगे और आसपास के लोगों को सावधान करते रहते थे।

"अरे! इन घोड़ों के समूह से एक ओर हटो, विचले हुए इन हाथियों के समूह से बचो, इन रथों से भी दूर होवो। ओहो! इन बच्चों को लोगों की इस भीड़ से उठाओ।"

इस प्रकार चलते समय की बातचीत से जिन्हें मार्ग का परिश्रम कुछ भी नहीं मालूम पड़ता था, ऐसे सैनिक लोग सेनापति के द्वारा पहले से ही तैयार किए हुए शिविर के समीप जा पहुँचे। उस समय मध्यान्ह का सूर्य भरत की रानियों के मुख पर पसीनों की बूँदों को लाकर उन्हें कुछ-कुछ खेदखिन्न कर रहा था। तभी सम्राट भरत शिविर के समीप पहुँचे। महाराज भरत के ऊपर छत्ररत्न से छाया की जा रही थी। वे देवनिर्मित सुन्दर रथ पर बैठे हुए थे और साथ में चलने वाले वृद्ध पुरुषों के साथ अनेक प्रकार की पवित्र कथायें कर रहे थे अतः उन्हें लम्बा मार्ग चलने से भी कुछ खेद नहीं हुआ था। उनमें दिव्य सामर्थ्य थी इसलिए रथ के वेग से चलने पर भी उन्हें किंचित् मात्र भी आघात नहीं लगा था। उनके रथ के ऊपर जो बहुत बड़ी और ऊँची वस्त्र की ध्वजा फहरा रही थी जो मानों सेना को मार्ग का संकेत ही दे रही हो।

सेनापति ने चक्रवर्ती को ठहराने के लिए जो मकान बनाये थे और सभी रानियों के तथा अन्य मुकुटबद्ध राजाओं के लिए जो भवन बनाए थे तथा सारी सेना के लिए जो उचित तम्बू-डेरे आदि लगाये थे, वे सब अयोध्या को भी हँस रहे थे अर्थात् अयोध्या से भी अधिक सुन्दर नगर

की शोभा धारण कर रहे थे। इन वस्त्र के मंडपों को खड़ा करने के लिए जगह-जगह चाँदी के खम्भे चमक रहे थे, जो राजभवनों की शोभा को फीकी कर रहे थे। इन तम्बुओं के चारों ओर कंटीली बाड़ियाँ बनाई गई थीं। उन्हें देखकर भरत महाराज सोच रहे थे—

"अहो! अपने निष्कंटक राज्य में कहीं पर कोई शत्रु कांटे नहीं हैं, मात्र इस बाड़ में ही कांटे दिख रहे हैं।"

अनंतर महाराज ने एक दृष्टि इस शिविर के बाहर की ओर दूर तक डाली, तो देख रहे थे कि घोड़ों के लिए घुड़साल आदि बनाये गये हैं जो कि सब तम्बू, डेरे, मंडपों से ही निर्मित हैं। इस प्रकार शिविर (कटक या छावनी) में प्रवेश करने के लिए उसके बड़े दरवाजे के पास पहुँचे। उसके कुछ और आगे तक सैनिकों के साथ जाकर देखते हैं कि बहुत बड़ा बाजार बनाया गया है। उसमें खूब अच्छी सजावट की गई है, जगह-जगह तोरण बँधे हुए हैं, अनेक ध्वजाएँ फहरा रही हैं और व्यापारी लोग जिसमें रत्नों का अर्घ लेकर महाराज के स्वागत के लिए खड़े हैं, ऐसे उस बाजार में राजा ने प्रवेश किया। वहाँ पर प्रत्येक दुकान पर निधियों के समान रत्नों के ढेर रखे हुए थे। उन्हें देखकर भरत महाराज एक क्षण के लिए सोचने लगे—

"अहो! निधियों की संख्या नौ है, यह प्रसिद्धिमात्र है, वास्तव में वे असंख्यात् हैं।"

इस बाजार की शोभा दिखाते हुए रथ आगे बढ़ता जा रहा था। उस समय बाजार का रास्ता महाराज के तम्बू तक चारों ओर से अनेक राजकुमारों से भरा हुआ था, इसलिए वास्तव में वह राजमार्ग हो रहा था। आगे बढ़कर देखते हैं कि द्वारपाल लोग मनुष्यों की भीड़ को दूर

कर रहे हैं। बंदीजन मंगल शब्द बोल रहे हैं। ऐसे नवनिर्मित राजभवन के आँगन को देखकर महाराज भरत भी कुछ आश्चर्यचकित हो गये। वहाँ पर रत्नों के ढेर और मंगल द्रव्य रखे हुए थे। ऐसे उस तम्बू में—वस्त्र से बने राजमहल में महाराज ने प्रवेश किया। यह पूरा शिविर-जिसे चक्रवर्ती का कटक कहते हैं, उसके ठहरने का निवास स्थान चक्रवर्ती के स्थपति (शिलावट) नाम के रत्न ने क्षणमात्र में निर्मित कर दिया था।

राजा भरत जब सुखपूर्वक वहाँ मंडप में अपने सिंहासन पर विराजमान हो गये, तब पूर्व दिशा के अनेक राजा अपनी कुल परम्परा से आये हुए बहुत से रत्न, धन्य, कन्यायें आदि ला-लाकर चक्रवर्ती भरत को भेंट कर रहे थे और चक्रवर्ती के द्वारा उन्हें स्वीकार कर लेने पर वे राजा लोग स्वयं कृतकृत्य होकर उनके गुणों का बखान करते हुए उनकी प्रशंसा कर रहे थे। इसी प्रकार अन्य कितने ही राजागण उस सेना के द्वारा अनुशासित किये जाने पर अहंकार छोड़कर दूर से ही मस्तक झुकाकर चक्रवर्ती को प्रणाम कर रहे थे।

(७)

सम्राट भरत ने रात्रि विश्राम के बाद प्रात:काल होते ही जिन वंदना आदि प्रात:कालीन क्रियाओं को करके चक्ररत्न को आगे कर प्रस्थान कर दिया। छह खंड वसुधा में किसी के द्वारा भी उल्लंघन न करने योग्य चक्ररत्न और शत्रुओं को दंडित करने वाला दण्डरत्न ये दोनों चक्रवर्ती की सेना के आगे-आगे रहते थे। वे दोनों एक-एक हजार देवों के द्वारा रक्षित थे। वास्तव में चक्रवर्ती की विजय के ये दो ही कारण थे और तो सर्व वैभव सामग्री केवल शोभा के लिए ही थी।

अबकी बार चक्रवर्ती ने विजयार्धपर्वत के साथ स्पर्धा करने वाले

विजयपर्वत नाम के उत्तम हाथी पर सवार होकर प्रस्थान किया था। इस सफेद हाथी पर चढ़े हुए भरत के सिर के ऊपर लगाया गया सफेद छत्र बहुत ही सुन्दर दिख रहा था। उनके दोनों तरफ ढुरती हुई श्वेत चामरों की पंक्तियाँ भी भरत की शोभा को द्विगुणित कर रही थीं। हजारों मुकुटबद्ध राजा लोग भरत महाराज के पीछे-पीछे चल रहे थे।

सेनापति सैनिकों को प्रेरित करते हुए कह रहे थे —

" हे सैनिकों! आज बहुत दूर जाना है और समुद्र के समीप ठहरना है, इसलिए जल्दी करो।"

सैनिक भी आपस में एक-दूसरे को कह रहे थे —

"अरे भाई! जल्दी करो, देखो! महाराज प्रस्थान कर चुके हैं और आज का पड़ाव बहुत दूर है।"

"आज समुद्र तक चलना है, गंगा के द्वार पर ठहरना है।"

"हाँ! आज ही समुद्र को उल्लंघन कर महाराजाधिराज मागधदेव को वश में करेंगे।"

"आज हम लोग ऊँची-ऊँची लहरों से युक्त समुद्र को देखेंगे।"

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करते हुए वे सभी चलने लगे। उसी समय प्रस्थान के समय बजने वाले भेरी, नगाड़े आदि बाजे बजने लगे, जिनसे आकाश शब्दायमान हो गया।

अनन्तर चलती हुई सेना गंगा नदी के किनारे लम्बी होकर इस प्रकार चलने लगी कि मानों उसकी लम्बाई का ही माप कर रही हो। यह सेना गंगा नदी का अनुकरण कर रही थी। जैसे इस नदी में बगुले उड़ रहे थे, हंस चल रहे थे, राजहंस क्रीड़ा कर रहे थे वैसे ही इस सेना में बगुले के समान ध्वजायें फहरा रही थीं। हंसों के समान चंवर ढुरे जा रहे थे

और राजहंस के समान श्रेष्ठ महापुरुष चल रहे थे। महाराज भरत मार्ग में आने वाले अनेक देश, नदियाँ, पर्वत, वन, किले और खान आदि सबको उल्लंघन करते हुए आगे बढ़ते जा रहे थे।

अनेक मण्डलेश्वर राजा भरत को सन्मुख आते हुए देखकर यह सोचकर प्रणाम कर रहे थे कि —

"यह देश दण्डरत्न के धारक इन जैसे स्वामी का ही है।" महाराज भरत को चक्ररत्न धारण करने का या सारथि को शत्रु की ओर प्रेरित करने का प्रसंग ही नहीं आता था। कोई भी शत्रु राजागण उनके साथ करने लगते थे अथवा यों कहिये कि उनका शत्रु कोई नहीं दिख रहा था। ये सम्राट जिस प्रकार अपने राज्य में विभुत्व और ऐश्वर्य धारण करते थे उसी प्रकार शत्रुओं के राज्यों में युद्ध करने के लिए तैयार न होकर घबराकर उनके चरणों में नमस्कार विभुत्व धारण कर उनकी पृथ्वी पर अपना अधिकार घोषित कर देते थे। कोई भी राजा उस समय उनके विरुद्ध नहीं था, इसलिए इन्हें किसी से सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय नहीं करने पड़ते थे। स्वयं सम्राट प्रत्येक देश से भेंट लेकर आने वाले राजाओं का बड़ी प्रसन्नता से आदर-सत्कार करके उन्हें सन्तुष्ट कर देते थे। इन्हें न हाथ में तलवार लेनी पड़ी और न धनुष पर डोरी ही चढ़ानी पड़ी थी। केवल अपनी प्रभुत्व शक्ति से ही इन्होंने पूर्व दिशा को जीत लिया था।

जंगली हाथियों से भरे हुए वन में रहने वाले भील हाथी-दाँत और मोतियों को भेंट में देकर महाराज भरत के दर्शन करते थे। कितने ही म्लेच्छ राजाओं ने चमरी गाय के बाल और कितने ही ने मृगनाभि से प्राप्त हुई कस्तूरी भेंट कर भरत के दर्शन किये थे। वहाँ के सेनापति ने

चक्रवर्ती की आज्ञा प्राप्त कर अंतपालों के लाखों किले अपने वश में किये। उन अंतपालों ने अपूर्व-अपूर्व रत्नों के समूह तथा सोना-चाँदी आदि उत्तम धन भेंटकर भरतेश्वर को प्रणाम कर उनकी आज्ञा स्वीकार की।

अनंतर सेना के साथ-साथ बहुत सा मार्ग व्यतीत कर वे गंगा के पास आये और उसके बाद ही अपने समान अलंघनीय समुद्र को देखा। वहाँ पास में बहुत बड़ा उपसमुद्र था। समुद्र से बाहर उछल-उछल कर गहरे स्थान में इकट्ठा हुआ जल उपसमुद्र बन गया था। यह उपसमुद्र द्वीप के भीतर रहता है इसलिए इसका जल 'द्वैप्य' कहलाता है। कर्मभूमिरूप युग के प्रारंभ में जो वर्षा हुई थी, तब से लेकर काल के प्रभाव से बढ़ता हुआ वही जल द्वीप के अंत भाग तक पहुँच गया था। यही सब अधिक गहरे स्थान में रुक जाने से उपसमुद्र बन गया था।

उस उपसमुद्र को देखते हुए भरत ने गंगा के उपवन की वेदी के अंतभाग में सेना का प्रवेश कराया। वहाँ वेदिका में एक बड़ा भारी तोरणद्वार है जो कि उत्तर द्वार कहलाता है। उसी द्वार से धीरे-धीरे प्रवेश कर सेना वन के भीतर ठहर गई।

यद्यपि मागधदेव को वश में करना यह कार्य पौरुषसाध्य है, फिर भी उसमें दैव की प्रमाणता मानकर भरत महाराज ने लवण समुद्र को जीतने में तत्पर होकर भगवान् अरिहंत देव की आराधना की। विजय के शस्त्रों को मंत्र-तंत्रों से संस्कारित करके तीन दिन का उपवास लेकर पवित्र आसन पर बैठे हुए भरत ने मंत्रस्मरणपूर्वक पंचपरमेष्ठी की पूजा की पुनः विधिपूर्वक सेना की रक्षा के लिए सेनापति को नियुक्त कर स्वयं दिव्य अस्त्र धारण कर लवण-समुद्र को जीतने के लिए अजितंजय नाम के रथ पर चढ़कर भरतेश्वर ने प्रस्थान कर दिया। इस दिव्य रथ में

ऐसे दिव्य घोड़े जुते हुए थे, जो जल और स्थल पर समान रूप से चलते थे। इस रथ में देवोपनीत दिव्य अस्त्र-शस्त्र रखे हुए थे। इस हरितवर्ण के रथ के ऊँचे अग्रभाग पर चक्र के चिन्ह से चिन्हित ध्वजा लहरा रही थी और दिव्य सारथी इसे हाँक रहा था। उसी समय पुरोहित मंगलद्रव्य हाथ में लिए हुए आगम की ऋचा पढ़कर आशीर्वाद देने लगे—

"त्वं देव विजयस्व !

जयंति विधुताशेषबंधना धर्मनायकाः। त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्प्रसादाज्जयाखिलं"।।

"हे देव ! आपकी जय हो, विजय हो, समस्त कर्म बंधन को नष्ट करने वाले धर्मनायक तीर्थंकर देव सदा जयवंत रहते हैं इसलिए उनके प्रसाद से आप भी धर्मपूर्वक विजय प्राप्त करो और अखिल विश्व को जीतो।"

"हे देव ! इस समुद्र में निवास करने वाले मागध आदि देवगण आपके उपभोग करने योग्य क्षेत्र के भीतर ही रहते हैं इसलिए उन्हें जीतने के लिए आपका यह समय है।"

अनेक पवित्र आशीर्वाद ऋचाओं को सुनते हुए भरत महाराज गंगाद्वार की वेदी चढ़ गये। वह वेदी केवल समुद्र के भीतर प्रवेश करने का ही द्वार नहीं थी बल्कि चक्रवर्ती ने उसे अपने कार्य की सिद्धि का भी द्वार समझा था। मंगल वेश को धारण किए चक्रवर्ती उस वेदी पर आरूढ़ हुए ऐसे दिख रहे थे, मानो वे विजयलक्ष्मी की विवाह-वेदी पर ही आरूढ़ हुए हैं। भरत महाराज उस वेदी को अपने घर के आंगन की वेदी समझ रहे थे और उस महासागर को कृत्रिम नदी की बुद्धि से देख रहे थे।

वह महासमुद्र उस समय तरंगरूपी भुजाओं से किनारे पर छोड़े हुए

रत्नसहित जल के छोटे-छोटे कणों से मानों भरत के लिए मोती और अक्षतों से मिला हुआ अर्घ्य ही दे रहा हो। उस समुद्र में असंख्यात् शंख थे, वह पार रहित था और अलंघ्य तथा अक्षोभ्य था, उसमें करोड़ों रत्न भरे हुए थे, ऐसे उस समुद्र को चक्रवर्ती ने अपूर्व महानिधि के समान देखा। महाभाग्यशाली भरत ने गंभीर शब्द करते हुए उस समुद्र को देखकर दृष्टिमात्र से ही उसे गाय के खुर के समान तुच्छ समझ लिया पुनः अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए सिद्धपरमेष्ठी को नमस्कार कर सारथी से कहा—

"हे सारथे! शीघ्र ही रथ आगे बढ़ाओ।"

सारथी ने स्वामी की आज्ञा पाकर रथ को समुद्र में उतार दिया और घोड़ों की रास ढीली छोड़ दी। वे घोड़े जल में ऐसे चलने लगे कि मानों स्थल पर ही दौड़ रहे हों।

"मनोरथ पहले जाता है या रथ"?

इस तरह मन के वेग को भी पीछे करते हुए वे घोड़े रथ को खींचे आगे बढ़े जा रहे थे।

"अहो! चक्रवर्ती का पुण्य भी कैसा आश्चर्यजनक था!" इतने अधिक वेग से जल में दौड़ते हुए भी उन घोड़ों को थकान नहीं हो रही थी बल्कि समुद्र की लहरों से उनका श्रम दूर होता जा रहा था। रथ के पहियों के संघट्टन से क्षण भर के लिए जो समुद्र का जल फटकर दोनों ओर होता जाता था, वह ऐसा मालूम होता था कि मानों आगे आने वाले सगर आदि चक्रवर्तियों के लिए सूत्र डालकर मार्ग ही तैयार किया जा रहा है। इस तरह सारथी के द्वारा चलाया हुआ रथ समुद्र में बारह योजन चलकर जल के भीतर ही खड़ा हो गया, मानों समुद्र ने ऊपर की ओर बढ़कर उसके घोड़े ही थाम लिए हों।

(८)

उस समय चक्रवर्ती ने कुछ कुपित होकर अपने धनुष को प्रत्यंचा से युक्त किया, तब समुद्र में भयंकर क्षोभ उत्पन्न हो गया। उन्होंने प्रशंसनीय योग्य आसन से खड़े होकर उस धनुष में कभी व्यर्थ नहीं जाने वाला ऐसा अमोघ नाम का बाण रखा। उस बाण में ये अक्षर लिखे हुए थे कि—

"मैं ऋषभदेव का पुत्र भरत नाम का चक्रवर्ती हूँ, इसलिए मेरे उपभोग के योग्य क्षेत्र में रहने वाले सब व्यंतरदेव मेरे अधीन होवें।"

चक्रवर्ती ने यह बाण पूर्वदिशा की ओर छोड़ा। वह बाण सीधा चलकर वज्रपात से भी भयंकर शब्द करता हुआ आकाशतल से मागधदेव के निवास स्थान पर जा पड़ा।

"ओह! यह वज्र पड़ा है या भूमिकम्प हुआ?"

इस प्रकार व्याकुल हुए समीप में रहने वाले व्यंतरदेव अपने स्वामी मागधदेव के पास आकर उन्हें घेर कर खड़े हो गये और बोले—

"हे देव! हमारे सभा भवन के आंगन में कोई देदीप्यमान बाण आकर पड़ा है, उसी से यह क्षोभ उत्पन्न हुआ है। हे प्रभो! जिस देव या दानव ने यह बाण छोड़ा है, हम उसका प्रतिकार करने के लिए तैयार हैं।"

मागधदेव ने एकदम कुपित होकर कहा—

"ओहो! मैं वही मागधदेव हूँ और आप सब मेरे वे ही वीर योद्धा देवतागण हैं। क्या कभी मैंने किसी शत्रु को सहन किया है? अहो! हम लोग शत्रुओं को जीतने से ही "देव" कहलाते हैं न कि इच्छानुसार जहाँ-तहाँ विहार करने मात्र से। सबसे पहले मैं इस बाण को चूर कर अपनी क्रोधरूपी अग्नि का इसे पहला ईंधन बनाऊँगा।"

तब स्वामी के क्रोध को शांत करते हुए कुल परम्परा को जानने वाले कुछ देव बोले—

"हे प्रभो! यह ठीक है कि अभिमानी पुरुष को अपना पराभव नहीं सहन हो सकता, फिर भी बलवान पुरुषों के साथ विरोध करना भी तो अपने पराभव का कारण है। यह बिल्कुल ठीक है कि अपने प्राण अथवा धन देकर भी यश की रक्षा करनी चाहिए किन्तु वह यश किसी समर्थ पुरुष का आश्रय किये बिना बुद्धिमानों को भला किस प्रकार हो सकता है? प्राप्त नहीं हुई वस्तु का प्राप्त होना और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करना ये दोनों ही कार्य किसी विजिगीषु राजा के आश्रय बिना सुखपूर्वक प्राप्त नहीं हो सकते हैं। हे स्वामिन् ! आप बलवान मनुष्यों की अपेक्षा और भी अधिक बलवान तथा बुद्धिमान हैं इसलिए 'मैं बलवान हूँ' ऐसा गर्व नहीं करना चाहिए। सफलता की इच्छा करने वाले को बिना विचार कुछ भी कार्य नहीं करना चाहिए। इसलिए—

"यह बाण कहाँ से आया है? और किसका है? पहले इस बात की खोज करनी चाहिए।" इस भारतवर्ष में चक्रवर्ती और तीर्थंकर महापुरुष निवास करेंगे—अवतार लेंगे' ऐसे आप्त पुरुषों के यथार्थ वचन हम लोगों ने अनेक बार सुने हैं। विजय को सूचित करने वाला यह बाण अवश्यमेव चक्रवर्ती का ही होगा क्योंकि सघन अंधकार को नष्ट करने वाला प्रकाश क्या सूर्य के सिवाय किसी अन्य वस्तु से संभव है? अथवा इस विषय में संशय करना व्यर्थ है। यह बाण चक्रवर्ती का ही है क्योंकि इस पर खुदे हए अक्षर साफ-साफ दिख रहे हैं।

इसलिए गंध, अक्षत, माला आदि से इस बाण की पूजा कर हम

लोगों को आज ही वहाँ जाकर उनका यह बाण उन्हें अर्पण कर देना चाहिए और आज ही उनकी आज्ञा मान्य करनी चाहिए। हे मागधदेव! आप किसी प्रकार के विकार को प्राप्त मत होइये और हम लोगों के द्वारा कहे हुए इस कार्य को अवश्य ही कीजिए क्योंकि उनके देश में रहने वाले आपको उनके साथ विरोध करना उचित नहीं है। पूज्य मनुष्यों की पूजा करने से इस लोक तथा परलोक में उन्नति होती है और उनकी पूजा का उल्लंघन करने से दोनों ही लोक में हानि होती है अत: हे देव! क्रोध को शांत कर अपने कर्त्तव्य की ओर लक्ष्य दीजिए।"

उस समय कुछ प्रबोध को प्राप्त हुए मागधदेव ने कहा—

"अच्छा! ठीक है, मुझे नहीं मालूम था कि यह चक्रवर्ती का बाण है। अब मुझे क्या करना है?"

वह देव चित्त में कुछ घबराहट, कुछ भय, कुछ आशंका, कुछ उद्वेग और कुछ प्रबोध को धारण करते हुए एक क्षण सोचकर पुन: अपने अवधिज्ञान से सारा हाल जानकर बोला—

"ओहो! ये वे ही चक्रवर्तियों में पहले चक्रवर्ती महाराज भरत हैं कि जिनकी आज्ञा कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकते, हमें हर एक प्रकार से इनकी पूजा करनी है और आदर सहित इनकी आज्ञा शिरोधार्य करना है। ये चक्रवर्ती हैं, चरमशरीरी हैं और जगद्‌गुरु भगवान् ऋषभदेव के पुत्र हैं। इन तीनों में से एक-एक गुण ही पूज्य होता है, फिर जिनमें तीनों का समुदाय हो, उनकी तो बात ही क्या कहनी है?"

पुन: यह मागधदेव अपने अनेक विशेष देवों के साथ उस बाण को रत्न-पिटारे में रखकर यथायोग्य भेंट की वस्तुएँ लेकर चक्रवर्ती के दर्शन के लिए आकाश मार्ग से चला और क्षणमात्र में ही इनके निकट

पहुँच गया। बाण सहित रत्न-पिटारे को सामने रखकर भरतराज को नमस्कार करके बोला—

"हे आर्य! मुझे स्वीकार कीजिए-अपना ही समझिये। हे नरपुंगव! हम अज्ञानी लोग चक्र उत्पन्न होने के समय नहीं आये, सो आप हमारे इस भारी अपराध को क्षमा कीजिए। ऐसी हम आपसे बार-बार प्रार्थना करते हैं। हे श्रीमान्! आपके चरणों की धूलि से केवल यह समुद्र ही पवित्र नहीं हुआ है किन्तु आपके चरण कमलों की सेवा करने से हम लोग भी पवित्र हो गये हैं। हे प्रभो! यद्यपि ये रत्न अमूल्य हैं और स्वर्ग में भी दुर्लभ हैं तथापि आपकी निधियों के नीचे रखने के काम में आवें।"

ऐसा कहते हुए मागधदेव भेंट की वस्तुएँ सामने रखकर हाथ जोड़कर निवेदन करते हुए बोला—

"यह सीप, बांस और हाथी में उत्पन्न न होने वाले ऐसे दिव्य मोतियों से गुँथा हुआ हार आपके वक्षस्थल के आलिंगन से पूज्यता को प्राप्त हो तथा ये देदीप्यमान चमकते हुए दोनों कुण्डल आपके कानों की संगति से पवित्रता को प्राप्त हों।"

इस तरह उस देव ने एकरूपता को प्राप्त हुए तीनों लोकों की सार वस्तुओं के समुदाय के समान सुन्दर हार और दोनों दिव्य कुण्डल भरत को समर्पित किये। अनन्तर सम्राट् भरत ने भी मधुर मुस्कान और समुद्र के अन्तर्गत द्वीप में रहते हुए अनेक अनुभव संबंधी वार्तालाप करके उस मागधदेव का चित्त प्रसन्न कर उसे अपना आत्मीय-बन्धु जैसा बना लिया पुनः अतिशय प्रसन्नता को प्राप्त हुए मागधदेव ने रत्नों के स्वामी भरत की अनेक प्रकार के रत्नों से पूजा की और फिर उनकी आज्ञा लेकर अपने स्थान पर चला गया।

कुछ समय वहाँ खड़े रहकर भरत ने अंतर्द्वीपों सहित उस समुद्र को देखते हुए कुछ आश्चर्य सा प्राप्त किया। उसी क्षण उनका चतुर सारथी हाथ जोड़कर भरत से कहने लगा—

"हे स्वामिन् ! यह समुद्र आपके लिए अर्घ समर्पित करते हुए आपकी पूजा कर रहा है। देखिए! इसने अपनी चंचल तरंगरूपी भुजाओं में देदीप्यमान मणियों के समूहरूप पूजा की सामग्री ली हुई है। इसके मध्य असंख्यात् शंख शब्द कर रहे हैं, वही इसका स्तुति पाठ है और वायु के द्वारा कंपित जल ही इसके नगाड़े हैं। इस तरह यह पूजन सामग्री, वाद्य, स्तुति आदि से आपकी पूजा करता हुआ ही प्रतीत हो रहा है। राजाधिराज! इस समुद्र में जल के भीतर हजारों ऐसे स्थान बने हुए हैं, जिनमें देवगण अपनी देवांगनाओं के साथ क्रीड़ा करते हैं और नंदन वन से भी अधिक सुन्दर उन्हें मानते हैं। इसके अन्दर हजारों मनोहर वन हैं और हजारों सुन्दर-सुन्दर द्वीप हैं। वे सब ऐसे जान पड़ते हैं मानों इसके भीतर बने हुए किले हों। हे राजन् ! इधर देखिए, ये बड़े-बड़े सर्प अपने मस्तक को ऊँचा उठाकर आकाश की ओर देख रहे हैं, इनके फणों के ऊपर देदीप्यमान रत्न चमक रहे हैं सो ऐसा मालूम होता है कि यह समुद्र अपने तरंगों रूपी बड़े-बड़े हाथों से दीपकों को सजाकर आपकी आरती ही उतार रहा है। हे महाभाग! इधर दृष्टि डालिये, यह वायु समुद्र के किनारे की वनपंक्ति से मंदार वृक्ष की सुगंधि लेकर धीरे-धीरे चल रही है। उसी वायु के साथ धीरे-धीरे चलती हुई ये विद्याधरियाँ इस समुद्र के किनारों में लीलापूर्वक हास्य-विनोद करती हुई क्रीड़ा कर रही हैं, घूम रही हैं।

इस समुद्र में अनेक बड़े-बड़े पाताल बने हुए हैं। इसी में कहीं-

कहीं बड़वानल अग्नि प्रज्वलित होती रहती है और इसमें सर्वत्र असंख्यातों मगरमच्छ आदि जलचर जन्तु भरे हुए हैं। इस प्रकार यद्यपि इसमें अनेक पातालों और बड़वानलों के द्वारा बार-बार ह्रास होने पर भी इसके जल का और रत्नों का कभी भी क्षय नहीं होता है इसलिए यह अक्षय है, अनादि और अनिधन है। जब तक यह संसार है तब तक यह रहेगा — इसका कभी भी नाश नहीं हो सकता है। हे आयुष्मन् ! जिस प्रकार आप अनेक आश्चर्यों से भरे हुए हैं, वैसे ही यह भी अनेक आश्चर्यों से सहित होकर विशालता, अगाधता और गंभीरता आदि में आपसे तुलना कर रहा है अथवा आपका अनुकरण कर रहा है।''

इस प्रकार सारथि के मुख से समुद्र की शोभा और अपनी प्रशंसा को सुनते हुए भरत महाराज कुछ क्षण तक वहीं खड़े रहे पुनः अपने कार्य की सिद्धि हो जाने से प्रसन्नचित्त हुए उन्होंने अपनी छावनी की तरफ वापस चलने के लिए सारथि को प्रेरणा दी। तब उसने बड़ी कठिनाई से रथ के घोड़ों को उधर से मोड़कर वापस चलने के लिए घुमाया और छावनी की ओर प्रस्थान कर दिया। उस समय समुद्र के किनारे खड़े हुए देव, विद्याधर आदि अनेक प्रकार के कौतूहल से भरे भारत के स्वामी भरत को देख रहे थे। तभी लीलामात्र में चक्रवर्ती भरत समुद्र के किनारे आ पहुँचे। तब किनारे खड़े हुए लोग चर्चा कर रहे थे —

''अहा! विजयी चक्रवर्ती का बहुत बड़ा पुण्य है।'' उस समय वेदी के नीचे गंगाद्वार पर नियुक्त हुए राजागण हाथ जोड़कर अपने मणिमय मुकुटों को झुकाकर चक्रवर्ती को प्रणाम कर रहे थे और मुख से जय-जय शब्द का उच्चारण कर रहे थे। उसी क्षण दरवाजे के बाहर खड़े हुए सैनिक लोग सब मिल एक साथ उच्च स्वर में बोलने लगे —

''जय हो, जय हो, चक्रवर्ती भरत महाराज की जय हो!''

भरत महाराज छावनी के बाहर वाली तोरण भूमि पर आ गये। तब वहाँ पर खड़े हुए बंदीजन उनका 'जय-जय घोष' के साथ स्वागत करने लगे। जब महाराज छावनी के भीतर राजभवन के बड़े द्वार पर पहुँचे, उस समय परिवार के लोग तथा पुरन्ध्री स्त्रियाँ उनके ऊपर मंगलाक्षत क्षेपण करते हुए उन्हें आशीर्वाद देने लगे। इस तरह सबका स्वागत स्वीकार करते हुए भरत राज ने अपने तम्बू में प्रवेश किया। उस समय सेना में बहुत बड़ा कोलाहल मच रहा था —

''ये भरत महाराज बिना बाधा के समुद्र को जीत कर आ गये हैं, इसलिए तुम मंगलाक्षत सहित सिद्ध (सफेद सरसों) तथा शेक्षाक्षत लाओ, तुम आशीर्वाद देओ, तुम लोग बहुत शीघ्र सामने जाकर खड़े होकर स्वागत करो।''

कुछ पुरोहित और वृद्ध पुरुष कह रहे हैं —

''हे देव! आप चिरकाल तक जीवित रहें, समृद्धिमान् हों, सदा बढ़ते रहें, आप शत्रुओं को जीतिए, समस्त पृथ्वी को जीतिए, हे महाभाग! आप समस्त मनोरथों को प्राप्त कीजिए।''

भरत महाराज ने बहुत बड़े पुण्योदय से, बिना किसी उपद्रव के, अलंघ्य ऐसे महासमुद्र का उल्लंघन कर समुद्र के जल को सीमा बनाकर ऐसी पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया और अन्य किसी के वश में न होने योग्य ऐसे मागधदेव नाम के बहुत बड़े व्यंतरदेव को अपने वश में कर लिया। सो ठीक ही है क्योंकि लोक में पुण्य से बढ़कर और कोई वशीकरण नहीं है। कहा भी है —

''पुण्यात् परं नहि वशीकरणं जगत्यां।''

यहाँ आचार्यश्री जिनसेन स्वामी पुण्य के माहात्म्य को तथा पुण्य कैसे संचित करना? इस बात को कह रहे हैं—

“पुण्य ही मनुष्यों को जल में स्थल के समान हो जाता है, पुण्य ही स्थल में जल के समान होकर शीघ्र ही समस्त सन्ताप को दूर कर देता है, पुण्य ही जल तथा स्थल दोनों स्थानों के भय में एक तीसरा होकर शरण हो जाता है, इसलिए हे भव्यजनों! तुम जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुए पुण्य का संपादन करो। यह पुण्य ही आपत्ति के समय किसी के द्वारा उल्लंघन न करने योग्य उत्कृष्ट शरण है, पुण्य ही दरिद्र मनुष्यों को धन देने वाला है और पुण्य ही सुख के अभिलाषी जनों को सुख देने वाला है। इसलिए हे सज्जन पुरुषों! तुम लोग जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुए इस पुण्य का ही संचय करो।

पहला पुण्य, जिनेन्द्रदेव की पूजा करने से उत्पन्न होता है। दूसरा पुण्य, सुपात्र को दान देने से उत्पन्न होता है। तीसरा पुण्य, व्रत पालन करने से उत्पन्न होता है और चौथा पुण्य, उपवास करने से उत्पन्न होता है। इस प्रकार से भव्य जीवों! तुम लोग इन चार प्रकार से पुण्य का संचय करो।”

राजा भरत अप्रतिम पुण्य का फल प्राप्त कर श्री जिनेन्द्रदेव का स्मरण करते हुए अपने सभा भवन में आकर राजाओं से घिरे हुए अपने दिव्य सिंहासन पर सुखपूर्वक आरूढ़ हो गये। तब ऐसा प्रतीत होता था कि मानों इन्द्र ही देवों से घिरे हुए अपनी इन्द्रसभा में विराजमान हैं।

(९)

चक्रवर्ती भरत समस्त इष्ट को सिद्ध करने वाली जिनेन्द्रदेव की पूजा करके दक्षिण दिशा को जीतने की इच्छा करते हुए समुद्र के

किनारे-किनारे चले। उस समय मंगलसूचक तुरही और नगाड़ों की ध्वनि ने समुद्र की गर्जना को भी ढक दिया। उस सेना के एक ओर दक्षिण की तरफ तो लवण समुद्र था, दूसरी ओर उत्तर की तरफ उपसागर था, उन दोनों के बीच जाता हुआ वह सेना का समूह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो तीसरा समुद्र ही हो। हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, देव और विद्याधर यह छह प्रकार की चक्रवर्ती की सेना आकाश और पृथ्वी के अंतराल को व्याप्त कर सब ओर फैल गई थी। सेना में सबसे आगे दण्डरत्न और उसके पीछे चक्ररत्न चल रहा था तथा इन दोनों के द्वारा साफ किये मार्ग में सुखपूर्वक चक्रवर्ती की सेना चल रही थी।

उच्चकुलों में उत्पन्न हुए अनेक राजाओं ने भरतेश्वर के लिए अपनी कुल परम्परा से चला आया धन देकर फिर से अपनी पृथ्वी प्राप्त कर ली थी। मंडलेश्वर राजाओं से बलपूर्वक प्रणाम कराते हुए चक्रवर्ती ने उनका केवल मान ही भंग किया था किन्तु अपनी सेवा के लिए जो उनका प्रेम था, उसे नष्ट नहीं किया था। प्राणों की रक्षा के समान भरत की आज्ञा को अपने मस्तक पर धारण करते हुए अनेक राजा लोग प्रत्येक पड़ाव पर आकर उन्हें प्रणाम करते थे पुनः उन्हें प्रणाम करते हुए राजाओं को चक्रवर्ती ने कल्पवृक्ष के समान फल देकर अनुगृहीत किया था। सम्राट भरत ने कितने ही राजाओं की ओर देखकर, कितने ही राजाओं की ओर मुस्कराकर, कितने ही राजाओं की ओर हँसकर, कितने ही राजाओं के साथ विश्वासपूर्वक वार्तालाप कर और कितने ही राजाओं का सम्मान कर उन्हें प्रसन्न किया था।

अंगदेश के राजाओं ने भरत के सन्मुख मणियों की भेंट समर्पित कर नमस्कार किया था, बंगदेश के राजाओं ने ऊँचे-ऊँचे हाथियों को

भेंट कर और कलिंग देश के राजाओं ने मणि तथा हाथी दोनों को भेंट कर भरत महाराज को प्रसन्न किया था। मगध देश के राजागण भरतेश्वर का गुण गाते हुए मागध बंदीजनों के समान मालूम पड़ रहे थे।

भरत महाराज के सेनापति ने कुरु, अवंती, पांचाल, काशी, कौशल और वैदर्भ देशों के राजाओं को अपने वश में करके मद्र, कच्छ, चेदि, वत्स, सुहन, पुन्ड्र, औंड्र और गौड़ देशों में जा-जाकर सब जगह भरत महाराज की आज्ञा सुनाई थी। उसने दशार्ण, कामरूप, कश्मीर, उशीनर, और मध्यदेश के समस्त राजाओं को बहुत शीघ्र वश में कर लिया था। उस समय भरतेश्वर को पृथ्वी पर जहाँ-तहाँ अनेक रत्न भेंट में मिल रहे थे, इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानों गर्भिणी के समान पृथ्वी ने चक्रवर्ती की सेना के बोझ से उत्पन्न हुए दु:सह क्षोभ को न सह सकने के कारण ही अनंत रत्न उत्पन्न किये हों।

हिमवान् पर्वत के निचले भाग से लेकर वैभार तथा गोरथ पर्वत तक सब जगह भरत महाराज के विजयी हाथी घूम रहे थे। भरत की आज्ञा से वह सेनापति कालिंद, कालकूट, भीलों के देश और मल्ल देश में भी पहुँचा था। उनकी सेना के हाथी सुमागधी, गंगा, गोमती, कपीवती और रथास्फा नदियों को तैरकर जहाँ-तहाँ घूम रहे थे। अत्यन्त गहरी गंभीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा आदि नदियों तथा लौहित्य समुद्र और कंबुक नाम के बड़े-बड़े सरोवरों को पार करते हुए सेना आगे बढ़ रही थी। सेना के घोड़े शोण नदी के दक्षिण की ओर, नर्मदा नदी के उत्तर की ओर तथा बीजा नदी के दोनों ओर एवं मेखला नदी के चारों ओर घूमे थे। सेना के हाथियों ने उंदुबरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती और यमुना नदी का पान किया था। घोड़े पंपा सरोवर

को पार कर चेदि नाम के पर्वत को उल्लंघन कर कोलाहल पर्वत तक जा पहुँचे थे, पुन: माल्यपर्वत के पूर्वभाग के समीप भी पहुँचे थे।

भरत की सेना के लोगों ने घर की देहली जैसा समझकर अवज्ञापूर्वक नागप्रिय पर्वत को उल्लंघन कर चेदि और ककूश देश में उत्पन्न हुए हाथियों को अपने अधीन कर लिया था। सेना के वीरपुरुष घोड़ों के द्वारा वृत्रवती नदी पार कर चित्रवती नदी के निकट पहुँचे थे। माल्यवती नदी के किनारे से निकलकर यमुना नदी का पानी पीकर सेना के हाथियों ने वेणुमती नदी के किनारे-किनारे जाकर वत्सदेश की भूमि पर आक्रमण किया और फिर दशार्णा (धसान) नदी को भी पार किया था। सेना ने विशाला, नालिका, सिंधु, पारा, नि:कुंदरी, बहुवज्रा, रम्या, सिकतिनी, कुहा, समतोया, कंजा, कपीवती, निर्विन्ध्या, जंबूमती, वसुमती, शर्करावती, सिप्रा, कृतमाला, परिजा, पनसा, अवंतिकामा, हस्तिपानी, कागंध्र, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नंदा, करभवेगिनी, चुल्लितापी, रेखा, सप्तपारा और कौशिकी नदियों की शोभा देखते हुए अपना मार्ग तय किया था।

इसके बाद सैनिकों ने तैरश्चिक नाम के पर्वतों को लांघ कर वैडूर्य नाम का पर्वत जा घेरा, फिर कूढ़ाचल को उल्लंघन कर पारिमात्र नाम का पर्वत प्राप्त किया पुन: भरत की सेना पुष्यगिरि के शिखरों पर चढ़कर सितिगिरि के शिखरों पर चढ़ी और फिर वहाँ से चलकर उसने गदा नामक पर्वत के लतागृहों में विश्राम किया। इन सैनिकों ने ऋक्षवान् पर्वत की गुफाओं को देखकर वातपृष्ठ पर्वत की गुफाओं का आश्रय लिया। फिर वहाँ से चलकर कम्बल नामक पर्वत के किनारों पर डेरा डाला था। बाद में वासवंत नाम के महापर्वत को उल्लंघन कर असुरधूपन नामक पर्वत पर ठहरे थे, फिर वहाँ से चलकर मदेभ, आनन्ग और

रेमिक पर्वत पर पहुँच गये। सम्राट भरत जहाँ-जहाँ पहुँचते थे, वहाँ-वहाँ के लोग उन्हें अनेक प्रकार के उपहार दिया करते थे और भरत भी उनके लिए अनेक प्रकार की सुविधाएँ दिया करते थे।

जो राजा लोग उपसमुद्र के उस पार रहते थे अथवा उपसमुद्र के भीतरी द्वीपों में रहते थे, उन सबको सम्राट् भरत ने अपने वश में करके उनसे अनेक प्रकार के रत्न लेकर संतुष्ट हो अपनी आज्ञा से उनके स्थानों पर फिर से उन्हीं को स्थापित कर दिया था। इस प्रकार भरत ने पूर्वदिशा के समस्त राजाओं को जीतकर दक्षिण दिशा के राजाओं को जीतने की इच्छा से उस पृथ्वी के मध्यभाग से दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया था। उत्कृष्ट सेनापति के साथ वह सेना जहाँ-जहाँ जाती थी, वहाँ-वहाँ के राजा लोग सामंतों सहित मस्तक झुका-झुकाकर उन्हें नमस्कार करते थे।

दक्षिण में भरत ने त्रिकलिंग, ओद्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नागदेश के राजाओं को जीतकर कूठ, ओलिक, महिष, कमेकुर, पांड्य और अंतपांड्य देश के राजाओं को दण्डरत्न के द्वारा अपने वशीभूत किया। सेनापति ने सम्राट की आज्ञा से तैला, इक्षुमती, नक्ररवा, वंगा और श्वसना नदियों को प्राप्त कर आगे बढ़कर वैतरणी, माषवती, महेन्द्रका नदी को देखते हुए शुष्क नदी के निकट पहुँचकर पुनः आगे सप्तगोदावर को पार कर गोदावरी को देखते हुए मानस सरोवर के निकट डेरा डाला था। इसके बाद सेना के साथ-साथ कुब्जा, धैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका और अंबर्णा नदी को देखते हुए दक्षिण दिशा के राजाओं को चक्रवर्ती की आज्ञा सुनाई थी, फिर महेन्द्र पर्वत को उल्लंघन कर विन्ध्याचल पर्वत के समीपवर्ती प्रदेशों को जीतता हुआ नागपर्वत पर चढ़कर वह सेनापति मलय पर्वत पर पहुँच गया। वहाँ से वह अपनी

सेना के साथ-साथ गोशीर्ष, दर्दुर, पाण्ड्य, कवाटक, शीतगृह, श्रीकटन, श्रीपर्वत और किष्किंध पर्वत को जीतता हुआ वहाँ के राजाओं से यथायोग्य लाभ प्राप्त कर वह सेनापति अतिशय समृद्धि को प्राप्त हुआ था। जिन्हें हल्दी, तांबूल और अंजन अधिक प्रिय हैं और यश ही जिनका धन है, ऐसे कर्णाटक देश के राजाओं को, कलिंग, ओंड्र, चोल, केरल और पाण्ड्य देश के राजाओं को अधीन कर यह सेना आगे बढ़ी जा रही थी। इस प्रकार चक्रवर्ती भरत ने कर-ग्रह अर्थात् टैक्स वसूली से दक्षिण दिशा को जीतकर दक्षिण समुद्र की ओर प्रयाण किया था।

जहाँ प्रायः लवंग और लवली की लताएँ लगी हुई हैं तथा जो छोटे-छोटे इलायची के पौधों से सहित हैं, ऐसे किनारे के सुगंधित वन बड़े सुन्दर दिख रहे थे। उस वन की वायु इलायची की सुगंधि से मिश्रित तालाब के जल-कणों से शीतल और सौम्य होकर बहती हुई चक्रवर्ती की मानो सेवा ही कर रही थी। वायु से हिलती हुई शाखाओं के अग्रभाग से फलों की अंजली बिखेरता हुआ वह मानों चक्रवर्ती की अगवानी ही कर रहा हो।

चक्रवर्ती भरत ने उस वन के मैदान में समुद्र के किनारे 'वैजयंत' नाम के महाद्वार के निकट अपनी सेना ठहराई। उस समय कितने ही सैनिक बड़े-बड़े वृक्षों की छाया के नीचे बैठे हुए अपना श्रम दूर कर रहे थे। कितने ही राजागण अपनी रानियों के साथ बड़े-बड़े वृक्षों के नीचे बैठे हुए भोगभूमिज आर्य-आर्या के सदृश दिख रहे थे और कितने ही सामंतगण नदी तालाबों के जल में अवगाहन कर जलकेलि का आनन्द ले रहे थे। उसी समय कुछ बन्दर करेंच की कलियों को हिलाते हुए सैनिकों को व्याकुल करने लगे अर्थात् करेंच की फलियों के रोम शरीर

पर लग जाने से खुजली उठने लगी। तब बन्दरों का समूह खुश होकर नाचने लगा। इधर घोड़े कोमल घास चरने लगे और हाथी तालाबों में घुसकर पानी पीने लगे। इस तरह साधारण सैनिकगणों की जोर-जोर की बातचीत के शब्दों से, उस सेना में भारी कोलाहल हो रहा था। घोड़ों पर बैठे हुए अनेक राजाओं का समूह जिनके पीछे चल रहा है, ऐसे वे चक्रवर्ती भरत बड़े भारी वैभव से लोकपालों को जीतते हुए तथा प्रत्येक दिशा के बंदीजनों के मंगलगानों के साथ-साथ आशीर्वाद सुनते हुए अपने उच्चतम, सुन्दर, नवनिर्मित शिविर में प्रविष्ट हुए।

वहाँ कुछ समय विश्राम कर निधियों के स्वामी भरत ने विजयशील शस्त्रों को साथ लेकर रथ पर बैठकर समुद्र में प्रवेश किया और बहुत दूर जाकर वहीं रथ रोककर अपने बाण के द्वारा 'वरतनु' देव को जीत लिया। तब 'वरतनु' देव विनय से सन्मुख आकर चक्रवर्ती को दिव्य कवच, देदीप्यमान हार, चमकता हुआ चूड़ारत्न, दिव्य कड़े और रत्नों से प्रकाशमान यज्ञोपवीत इन वस्तुओं को प्रदान कर प्रार्थना करने लगा —

"हे देव! यद्यपि आपके दिव्यरत्नों के प्रकाश में इन वस्तुओं की कोई अपनी प्रभा नहीं है, फिर भी ये आपकी सेवा में अर्पण कर मैं अपनी तुच्छ भेंट से केवल आपकी प्रसन्नता की कामना करता हूँ।"

अनंतर उत्तम-उत्तम रत्नों से उनकी पूजा कर वह 'वरतनु' देव चक्रवर्ती की आज्ञा लेकर अपने स्थान पर चला गया। राजाधिराज भरत भी दक्षिण समुद्र को जीतकर 'वैजयंत' नामक समुद्रद्वार से वापस लौटकर अपने शिविर में आ गये। उस समय विजयदुंदुभि से आकाश को व्याप्त करता हुआ और जयघोष से दिशाओं को बधिर करता हुआ बहुत जोरों से शब्द होने लगा जो कि चक्रवर्ती के यश को ही बढ़ा रहा था।

(१०)

चक्रवर्ती भरत पश्चिम दिशा को जीतने की इच्छा से अपनी सेना के द्वारा दक्षिण-पश्चिम के मध्य भाग (नैऋत्य दिशा) को जीतते हुए निकले। उस समय सेना में घोड़ों के समूह सबसे आगे थे, रथ सबसे पीछे थे, हाथियों का समूह बीच में चल रहा था और पियादे सभी जगह चल रहे थे। इस तरह हाथी, घोड़े, रथ, पियादे से यह चार तरह की सेना देव और विद्याधरों की सेना के साथ-साथ चल रही थी अतः यह सेना अपने छह अंगों के द्वारा विस्तार को प्राप्त होकर समुद्र को भी क्षुभित कर रही थी। जिन्हें कोई भेद नहीं सकता, जिनका संगठन अत्यन्त मजबूत है और जो शत्रुओं के क्षय का कारण है, ऐसी भरत की शक्ति तथा सेना दोनों ही शत्रु राजाओं पर अपना प्रभाव डाल रहे थे। जिससे सर्व राजा लोग दूर से ही नम्र होकर अनेक उत्तम-उत्तम भेंट लाकर भरत को नमस्कार कर उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर रहे थे अतः सम्राट् भरत के यद्यपि जीतने योग्य कोई शत्रु नहीं था तथापि वे जो दिग्विजय के लिए निकले थे, सो केवल दिग्विजय के छल से अपने उपभोग के योग्य क्षेत्र में चक्कर लगा रहे थे।

वहाँ वन में नारियल और सुपारी के वृक्षों की अल्प-अल्प छाया में सैनिकगण विश्राम कर रहे थे। कहीं-कहीं पान की बेलों के साथ-साथ सुपारी के वृक्ष मिल रहे थे। भीतर में कोमल, ऊपर त्वचा में काँटों से युक्त तथा अमृत के समान मीठे कटहल फल के भार से वृक्ष अतिशय झुककर सैनिकों को प्रसन्न कर रहे थे। वहाँ त्रिकूट पर्वत पर मलयगिरि के मध्य भाग पर और पांड्यकवाटक पर्वत पर किन्नर जाति की देवियाँ गंभीर स्वर से चक्रवर्ती का यश गा रही थीं। इस प्रकार भरत

महाराज ने दक्षिण दिशा को वश में कर चोल, केरल और पांड्य इन तीनों राजाओं को एक साथ जीता। अनंतर पश्चिम भाग के तरफ सह्य पर्वत के किनारे जाते हुए पश्चिम समुद्र की वेदी के अंत की रक्षा करने वाले राजाओं को जीता। उस समय वह विशाल सेना समुद्र के किनारे सब ओर फैल गई, तब हवा से लहराता हुआ उपसमुद्र ऐसा दिखने लगा मानो सेना के भय से व्याकुल ही हो रहा है। उसके गर्भ में छिपे हुए पद्मराग मणि आदि रत्न लाल-लाल दिख रहे थे। इस तरह सेना के असह्य संघटनों से अत्यन्त पीड़ित हुआ वह सह्य पर्वत अपने टूटे हुए वृक्षों से ऐसा जान पड़ता था मानो अपने मस्तक पर लकड़ियों का गट्ठा लेकर भरत के प्रति अपनी पराजय ही स्वीकृत कर रहा हो। (पूर्व काल में यह एक पद्धति थी कि पराजित राजा सिर पर लकड़ियों का गट्ठा रखकर, गले में कुल्हाड़ी लटकाकर अथवा मुख में तृण दबाकर विजयी राजा के सामने जाते थे और उनसे क्षमा माँगते थे।)

चक्रवर्ती भरत के हाथी पश्चिम समुद्र के किनारे से लेकर तुंगवरक पर्वत तक, कृष्णगिरि, समुंदर तथा मुकुंद नाम के पर्वत को उल्लंघन कर चारों ओर घूम रहे थे। सह्य पर्वत की पुत्रियों के समान तथा पश्चिम समुद्र की ओर बहने वाली भीमरथी, दारूवेणा, नीरा, मूला, वाणा, केतवा, करीरी, प्रहरा, अपंका, मुदरा, पारा, मदना, गोदावरी, तापी और लांगलखातिका नाम की नदियों को सेनापति ने अपनी सेना के साथ-साथ पार किया था। इस प्रकार उस 'सह्य' पर्वत को उल्लंघन कर भरत महाराज की सेना 'विंध्याचल' पर्वत पर पहुँची। वह पर्वत पूर्व-पश्चिम दिशा के दोनों कोणों से समुद्र (उपसमुद्र) में प्रवेश कर खड़ा हुआ था, सो ऐसा मालूम पड़ता था मानो दावानल के डर से समुद्र के साथ मित्रता ही करना चाहता हो। यह

पर्वत बड़े-बड़े बांसों के वृक्ष, बहुत दूर तक फैलकर झरते हुए झरने, यत्र-तत्र जलती हुई दावानल अग्नि तथा भीलों की पल्लियाँ और बड़े-बड़े हाथी, सिंह आदि से रमणीय दिख रहा था।

उस समय भरत की सेना का पड़ाव नर्मदा नदी के दोनों किनारों पर था। सैनिकों ने नर्मदा नदी को पार कर तथा पर्वत को घर की देहली समझकर विंध्याचल के उत्तर की ओर आक्रमण किया। तब सेना के लोगों ने विंध्याचल के समस्त फूल, पत्ते और वृक्षों का उपभोग कर लताओं तथा छोटे-छोटे पौधों को पुष्प रहित कर दिया, जिससे वह विंध्याचल वंध्याचल अर्थात् फल-पुष्पों से रहित-सा दिख रहा था।

वहाँ पर सैनिक लोगों ने और बड़े-बड़े राजाओं ने मोतियों से मिले हुए बासी चावलों से जिनेन्द्रदेव की पूजा की थी। विंध्याचल के वनों में रहने वाले राजाओं ने वन में उत्पन्न हुई अनेक रोगनाशक वनौषधियाँ भेंट कर चक्रवर्ती के दर्शन किये थे। भील राजाओं ने हाथियों के दाँत और मोती भेंट कर दर्शन किये थे। चक्रवर्ती ने विंध्याचल पर्वत को पश्चिम किनारे के अंत भाग से उल्लंघन कर और नर्मदा नदी को पार कर पश्चिम दिशा को जीतने के लिए प्रस्थान किया। सेना में सबसे आगे भरत महाराज का दुर्निवार प्रताप जा रहा था और उसके पीछे-पीछे चक्रसहित सेना जा रही थी। उधर लाटदेश के राजा पृथ्वीतल पर ललाट घिस कर प्रणाम करते हुए लालाटिक पद को प्राप्त हुए थे। सोरठ देश से राजा लोग सैकड़ों ऊँट और घोड़ियों की भेंट लाकर चक्रवर्ती को प्रणाम कर रहे थे।

भविष्यत्काल में होने वाले तीर्थंकर नेमिनाथ का स्मरण करते हुए सम्राट् भरत सोरठ देश में सुमेरु पर्वत के समान ऊँचे गिरनार पर्वत की

प्रदक्षिणा कर आगे बढ़े। उन-उन देशों के राजाओं ने उत्तम-उत्तम रेशमी वस्त्र, चायना सिल्क आदि वस्त्र भेंट में लाकर भरत महाराज के दर्शन किये। कितने ही राजाओं ने उत्तम हाथी, घोड़े और रत्नों के उपहार से भरत महाराज की पूजा की थी। कितने ही राजाओं ने तुरुष्क, काम्बोज, वाल्हीक, तैतिल, आरट्ट, सैंधव, वानायुज, गांधार और वापि देश में उत्पन्न हुए घोड़े भेंट कर दर्शन किये थे। भरत महाराज कितने ही राजाओं को सन्मान दान से, कितने ही राजाओं को विश्वास तथा स्नेहपूर्ण बातचीत से और कितने ही राजाओं को प्रसन्नतापूर्ण दृष्टि से अनुरक्त कर रहे थे। इस प्रकार भरत को प्रत्येक पड़ाव पर केवल रत्नों की ही प्राप्ति नहीं हुई थी किन्तु बड़े-बड़े राजाओं को जीत लेने से यश की भी प्राप्ति हुई थी। इस प्रकार चक्रवर्ती क्रम-क्रम से पूर्वदिशा के राजाओं के समान पश्चिम दिशा के राजाओं को भी वश में करते हुए पश्चिम समुद्र की ओर चले।

जिस दिशा में जाकर सूर्य भी अपने तेज की अपेक्षा मंद (फीका) हो जाता है, उसी दिशा में पश्चिमी राजाओं को जीतते हुए चक्रवर्ती का तेज अतिशय देदीप्यमान हो रहा था। उस समय भरत ने समुद्र के किनारे-किनारे जाकर अपने हृदय के समान कभी क्षुब्ध न होने वाली अपनी सेना का पड़ाव सिन्धु नदी के द्वार पर डलवाया। तदनन्तर कार्य के प्रारंभ में करने योग्य समस्त कार्यों के जानने वाले पुरोहित ने वहाँ पर मंत्रों के द्वारा चक्ररत्न की पूजा कर विधिपूर्वक धर्मचक्र के स्वामी श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा और फिर गंधोदक से मिले हुए पवित्र सिद्ध शेषाक्षतों से और पुण्यरूप अनेक आशीर्वादों से चक्रवर्ती भरत को आनन्दित किया।

उस काल में दिव्य अस्त्र धारण कर भरत सम्राट ने पहले के समान ही लवणसमुद्र में प्रवेश किया। कुछ दूर जाकर वहाँ से बाण

छोड़कर 'प्रभास' नाम के व्यंतरों के स्वामी व्यंतर देव को जीता। तब प्रभासदेव ने भी मोतियों का हार, सुवर्ण का हार और कल्पवृक्षों के पुष्पों का हार भेंट करके चक्रवर्ती को प्रणाम कर उनकी आधीनता स्वीकार की।

इस प्रकार समुद्रपर्यंत पूर्वदिशा के राजाओं को, वैजयंत द्वार तक दक्षिण दिशा के राजाओं को जीतकर और पश्चिम समुद्र की सीमा तक पश्चिम दिशा के राजाओं को जीतकर दिक्पालों के समान उन्हें अपने चरणों में नमस्कार कराते हुए तथा मागध, वरतनु और प्रभासदेवों को अपने अधीन कर अगणित देवों को कंपायमान करते हुए राजाधिराज भरत ने समस्त दिशाओं को शत्रुरहित कर दिया।

आचार्यदेव कहते हैं—

"पुण्य से दिग्विजय को प्राप्त कराने वाली चक्रवर्ती की लक्ष्मी मिलती है, पुण्य से ही इन्द्र की दिव्य लक्ष्मी मिलती है, पुण्य से ही तीर्थंकर की लक्ष्मी मिलती है और पुण्य से ही परम कल्याणरूप मोक्षलक्ष्मी भी मिलती है, इसलिए हे आयुष्मंतों! तुम भी जैन आगम के कहे अनुसार समीचीन पुण्य का संग्रह करो।[१]"

(११)

उत्तर दिशा को जीतने के लिए उद्यमशील हुए चक्रवर्ती भरत अपनी विशाल सेना के साथ निकले। उस सेना में अनेक गुणों से युक्त बलशाली घोड़े थे। घोड़ों के गुण जानने वालों ने उन्हें सर्वगुणों से सम्पन्न जानकर ही सेना में लिया था। घोड़ों की गति की चतुराई को धौरित, उत्साह को पराक्रम, विनय को शिक्षा और रोमों की क्रांति को शरीर का गुण कहते हैं अतः धौरित नाम की गति से उनकी चाल की परीक्षा होती

१. आदिपुराण, पर्व ३०।

थी, उत्साह से उनका बल जाना जाता था, स्फूर्ति के साथ हल्की चाल चलने से उनकी शिक्षा मानी जाती थी और शरीर के गुणों से उनकी 'जाति' जानी जाती थी। ऐसे ये उत्तम जाति के घोड़े चक्रवर्ती की सेना में उस समय अट्ठारह करोड़ थे। उस समय सिंधु नदी के किनारे-किनारे चलते हुए सेना के द्वारा उत्तर दिशा के राजाओं को वश में करते हुए कुलकर महाराज भरत धीरे-धीरे विजयार्ध पर्वत के समीप जा पहुँचे।

यह विजयार्ध पर्वत चाँदी से निर्मित तीन कटनी से सहित और मणियों के नौ शिखरों (कूटों) से बहुत ही विशाल था। इस पर्वत की तलहटी में बहुत ही सुन्दर वन (उद्यान) है, उसकी वेदी (परकोटा) बहुत ही ऊँची है। इसमें चारों ओर तोरण बँधे हुए थे। इस वन वेदिका को उल्लंघन कर सेनापतियों द्वारा नियंत्रित की हुई उस सेना ने वन के भीतर प्रवेश किया। उस समय वन की गुफाओं से सिंह, अष्टापद, चीते, अजगर आदि हिंस्र जन्तु निर्भय होकर निकल पड़े और यत्र-तत्र घूमने लगे। कहीं-कहीं सफेद हाथी दिख रहे थे, जो इन्द्र के ऐरावत हाथी की तुलना कर रहे थे। उसी क्षण कितने ही क्षुद्र पशु सेना के कोलाहल पूर्ण शब्दों से भयभीत हो विजयार्ध पर्वत की गुफाओं में जाकर छिप गये थे। अनन्तर उस वन में धीरे-धीरे चलती हुई वह सेना विजयार्ध पर्वत के पाँचवें कूट के समीप जाकर ठहर गई।

सेना के ठहरने पर चक्रवर्ती की आज्ञा से सेनापतियों ने उस वन में सेना के डेरे लगवा दिये। तब सैनिक लोगों ने अपनी-अपनी इच्छानुसार डेरे ले लिये तथा कुछ सैनिकों ने मनोहर लतागृहों को ही अपना निवास बना लिया।

भरत महाराज को वहाँ नियमानुसार ठहरे हुए जानकर विजयार्ध

पर्वत का स्वामी विजयार्धदेव हाथ में रत्नों का अर्घ्य लेकर भरत के दर्शन के लिए वहाँ आ गया। वह देव श्वेत वस्त्र धारण किए हुए था। मुकुट, कुंडल, हार, कड़ा, बाजूबंद, माला से विभूषित होता हुआ शंख नामक निधि के समान दिख रहा था। वह देव चक्रवर्ती के सामने रत्नों का अर्घ्य समर्पित कर घुटने टेककर नमस्कार करते हुए बोला—

"हे देव! आपको प्रणाम हो।"

प्रणाम के बाद भरत ने सत्कारपूर्वक उसे उत्तम आसन पर बिठाया पुनः उस देव ने हाथ जोड़कर अपना परिचय देते हुए कहना प्रारंभ किया—

"हे प्रभो! मैं इस पर्वत का रक्षक हूँ और इस पर्वत के बीच के शिखर पर रहता हूँ। हे नाथ! मैं आज तक अपनी इच्छानुसार रहता हुआ स्वतंत्र था परन्तु आज बहुत दिनों में आपके अधीन हुआ हूँ। मुझे तथा इस ऊँचे पर्वत को आप 'विजयार्ध' जानिये और हम दोनों ही परस्पर एक-दूसरे के आश्रय से अलंघ्य तथा निश्चल हैं। हे देव! यह पर्वत चक्रवर्ती दिग्विजय का आधा-आधा विभाग करता है इसलिए यह 'विजयार्ध' सार्थक नाम को प्राप्त है। हे आयुष्मन् ! मैं आपकी आज्ञा को माला के समान मस्तक पर धारण करता हूँ और आपके पैदल चलने वाले एक सैनिक के समान ही हूँ, इसके सिवाय मैं और क्या प्रार्थना करूँ?"

इतना कहते हुए वह देव अपने साथ में आये देवों से कहता है—

"हे देवगण! सुनो, दिग्विजय करने वाले चक्रवर्तियों का अभिषेक करना मेरा काम है।"

इतना सुनते ही सभी देवों ने निमिषमात्र में अभिषेक की व्यवस्था बना दी। तत्क्षण ही विजयार्धदेव ने अनेक देवों के साथ मिलकर

तीर्थजल से भरे हुए कलशों द्वारा सम्राट् भरत का अभिषेक किया। उस समय आकाश में गंभीर शब्द करते हुए नगाड़े बज रहे थे, अनेक देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं और किन्नर देव मंगलगीत गा रहे थे। अनंतर अभिषेक क्रिया पूर्ण कर देव ने सम्राट् को श्वेत वस्त्र पहनाकर अनेक मणिरत्नों से अलंकृत किया।

उस देव ने चक्रवर्ती के लिए रत्नों का श्रृंगार, सफेद छत्र, दो चमर और एक दिव्य सिंहासन भी भेंट किया। भरत ने भी विजयार्ध के साथ समयोचित प्रेमपूर्ण वार्तालाप कर उसे प्रसन्न किया। अनंतर चक्रवर्ती की आज्ञा प्राप्त कर वह देव अपने स्थान पर चला गया। इसके बाद —

''विजयार्ध पर्वत को जीत लेने पर मैंने समस्त दक्षिण भारत जीत लिया है।''

ऐसा मानते हुए चक्रवर्ती ने जल, गंध, अक्षत्, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से चक्ररत्न की पूजा की। विजयार्ध पर्वत तक विजय कर लेने पर भी उत्तर भारत को जीतने की आशा से उद्यत हुए चक्रवर्ती का विजय का उद्योग किंचित् भी शिथिल नहीं हुआ था पुनः वे सम्राट् किंचित् पीछे लौटकर विजयार्ध पर्वत की पश्चिम गुफा के समीपवर्ती वन को अपनी सेना के द्वारा घेरकर वहीं पर ठहर गये अर्थात् विजयार्ध पर्वत के दक्षिण की ओर पर्वत तथा वन दोनों की वेदियों के बीच में सिन्धु नदी के किनारे के वन के बाहर सेना ठहरी थी। अनेक आश्चर्यों से व्याप्त इस पर्वत पर बहुत कुछ देखने योग्य है, यही सोचकर सम्राट् वहाँ पर बहुत दिनों तक ठहर थे। इसमें उनका कुछ खर्च न होकर बल्कि उन्हें वहाँ पर अपूर्व-अपूर्व वस्तुओं का लाभ होते रहने से उनका कोष समुद्र के समान भर गया था।

भरत चक्रवर्ती को वहाँ ठहरे हुए जानकर गंगा और सिन्धु इन

दोनों नदियों के बीच में रहने वाले अनेक राजा लोग अपने-अपने स्थान से उनके दर्शन के लिए आते रहते थे और अतिशय भक्ति से उन्हें नमस्कार कर केशर, अगुरु, कपूर, सुवर्ण, मोती, रत्न तथा और भी अनेक वस्तुओं को भेंट कर चक्रवर्ती की अधीनता स्वीकार करते रहते थे। भरत महाराज विजयार्ध पर्वत के उत्तर भाग के जीतने का उद्योग कर रहे हैं, यह सुनकर कुरुदेश के राजा जयकुमार तथा और भी अनेक राजा लोग अपनी-अपनी समस्त सेनाएँ लेकर वहाँ आ गये थे। कितने ही मंडलेश्वर राजा भरत महाराज की सूचना से कितने ही बिना बुलाये अपना कर्त्तव्य समझकर ही उस समय वहाँ आ गये थे।

अब विदेश में जाना है और म्लेच्छ राजाओं को जीतना है, यही विचार कर सामंतों ने प्रायः धनुष-बाण को धारण करने वाली सेना तैयार की थी। उस समय रथों में आग्नेय बाण आदि अस्त्र, महास्तंभ आदि व्यस्त्र, तलवार आदि शस्त्र, सिर की रक्षा करने वाले लोहे के टोप और कवच आदि भरे हुए थे, जिनसे वे रथ समूह आयुध शालाओं के समान दिख रहे थे। कितने ही राजा लोग अच्छी तरह बनाये गये दण्डव्यूह, मंडल व्यूह, भोगव्यूह और असंहृतव्यूह से अपनी सेना की रचना को प्रसन्नचित्त हो उसे देख रहे थे।

इन सम्राट् भरत का ऐसा कौन-सा कार्य है कि जिसका हम तुच्छ लोग स्मरण भी कर सकें? फिर भी हम लोग जो स्वामी के पीछे-पीछे चल रहे हैं, सो उनकी अनुकूलता करते हुए समय के अनुसार उनकी भक्ति ही कर रहे हैं। ऐसा विचार कर बहुत से योद्धा लोग परस्पर में बातचीत कर रहे थे कि —

''हम लोगों को स्वामी का कार्य सिद्ध करना चाहिए।''

"हाँ, हाँ, हम लोगों को अपना यशरूपी धन फैलाना चाहिए।"

"ठीक है, हम लोगों को शत्रुओं की सेना दूर हटानी चाहिए।"

"हम लोगों को पुरुषार्थ करना चाहिए।"

"हम सभी को अनेक देश देखने का यह स्वर्णिम अवसर मिला है।"

"हाँ, हम सभी को विजय के अनेक आशीर्वाद प्राप्त होंगे।"

इत्यादि प्रकार से वार्तालाप करते हुए अगणित योद्धा उस समय चक्रवर्ती के शिविर में पहुँच गये थे।

कुछ लोग सोच रहे थे कि—

"भरतेश्वर का हिमवान् पर्वत तक विजय प्राप्त करने का उद्योग बहुत समय में पूर्ण होगा, इसलिए हम सभी को सर्व प्रकार की सामग्री से अपने-अपने कोठे भर-भर कर साथ में निकलना है।"

इस प्रकार अपनी-अपनी सेना से आते हुए राजागण और सामंत चारों ओर से चक्रवर्ती की सेना को घेरकर चक्रवर्ती भरत की जय-जयकार करने लगे। उस समय सब तरफ से आये हुए राजाओं की सेना से चक्रवर्ती की सेना ऐसी भर गई कि जैसे परिवार समेत चौदह नदियों से लवणसमुद्र भर जाता है।

जिस प्रकार भगवान के जन्म कल्याणक के समय वन और भूमि सहित सुमेरु पर्वत देवों की सेनाओं से भर जाता है उसी प्रकार वह विजयार्ध पर्वत भी वन और भूमि सहित चारों ओर से सेनाओं से भर गया। उस समय भरत की सेनाओं से अधिष्ठित हुए विजयार्ध पर्वत के शिखर अलग-अलग तने हुए राजमंडपों से स्वर्ग की शोभा धारण कर रहे थे। ऐसा यह विजयार्ध पर्वत नवकूटों के नवशिखरों से बहुत ही सुन्दर दिख रहा था।

(१२)

सम्राट भरत अपने सिंहासन पर आरूढ़ थे, उसी समय अपने मुकुट की कांति से आकाश को पीला करता हुआ एक देव पर्वत से नीचे उतर कर अपने अनेक परिकरों के साथ वहाँ आया। वह देव चम्पा के फूलों की माला पहने हुए था और अनेक दिव्य अलंकारों से विभूषित था। उसने बड़े ही विनय से सम्राट् को नमस्कार किया। तब भरत महाराज ने उसे यथायोग्य सत्कार के साथ आसन दिया। आसन पर बैठकर वह देव विनयसहित वचनों द्वारा अपना परिचय देते हुए बोला—

"हे देव! हम क्षुद्र देव कहाँ और आप दिव्य मनुष्य कहाँ? फिर भी इस देव पर्याय के स्थान के अनुरूप मेरी वाणी आपके समक्ष कुछ कहना चाहती है। हे आयुष्मन् ! आप जैसे शासकों को कुशल मंगल पूछने की हम लोगों में क्षमता कहाँ है? फिर भी पहले पूछने का एक नियोग होने से भी मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं आपसे कुशल पूछूँ। हे देव! जगत् का कल्याण करने वाली और समस्त पृथ्वी को जीतने में कुशल आपकी यह दाहिनी भुजा कुशल तो है न ?"

इतना कहकर उत्तर की प्रतीक्षा में उत्सुक हुए देव की ओर देखते हुए भरत महाराज ने मुस्कराते हुए कहा—

"श्री ऋषभदेव भगवान् की कृपा-प्रसाद से सर्व कुशल है।" तब देव सम्राट के मुख से कुछ शब्दावली को सुनकर मानों अभिषेक को ही प्राप्त हुए के समान हर्ष से रोमांचित हो गद्गद वाणी में कहने लगा—

"हे देव! आप देवों के भी प्रिय हैं, आपने सर्व पृथ्वी को जीत लिया है इसलिए यह देवपना आप में ही सार्थक है। हम लोग तो केवल देवजाति में जन्म लेने से ही देव कहलाते हैं। हम 'गीर्वाण' हैं यद्यपि

सामान्य कतिपय जनों में हम वचनरूपी तीक्ष्ण बाणों को धारण करते हैं तथापि आप के विषय में हम कुंठित वचन हैं। हे राजेन्द्र! आप छह खण्डों में बँटी हुई समस्त प्रदेश सहित इस भरत क्षेत्र की पृथ्वी का शासन कर रहे हैं अतः यह 'राजोक्ति' आप में ही सुशोभित होती है। हे महाभाग! चक्ररत्न के बहाने आपका दुःसह प्रताप देदीप्यमान हो रहा है और दण्डरत्न के छल से आपकी दण्डनीति प्रसिद्ध हो रही है। हे प्रभो! नवनिधि और चौदह रत्नों का ऐश्वर्य आप में ही तो विद्यमान है अतः आपको छोड़कर भला ऐश्वर्यशाली समर्थ सम्राट् और कौन हो सकता है? स्वामिन् ! आपकी कीर्ति स्वच्छंद होकर समस्त लोक में सदा अकेली घूम रही है और सरस्वती वाचाल है, फिर भी न जाने ये दोनों ही स्त्रियाँ आपको प्रिय क्यों हैं? हे देव! हम लोग इस पर्वत के शिखर पर रहते हैं और अपने स्थान से कभी भी विचलित नहीं होते हैं परन्तु इस भू पर आपके द्वारा ही अवतारित हुए हैं। हम लोग दूर-दूर अनेक स्थानों पर रहने वाले व्यंतर हैं, अब आप हम लोगों को अपने समीप रहने वाले सेवक बना लीजिए। मैं इस पर्वत के शिखर पर इस गुफा के कूट के भवन में रहने वाला 'कृतमाल' नाम का देव हूँ। मैं इस गुफा समेत पर्वत का सम्पूर्ण भीतरी हाल जानने वाला हूँ अथवा समस्त द्वीप-समुद्रों के भीतर का कोई भी हाल मेरे से छिपा हो, ऐसा नहीं है, इतना मात्र ही मेरा परिचय है अतः हे सम्राट्! मुझे योग्य आज्ञा देकर सेवा का अवसर प्रदान कीजिए।"

इतना कहकर उस देव ने चक्रवर्ती को चौदह प्रकार के आभूषण दिये। इसके पश्चात् विजयार्ध पर्वत की गुफा के द्वार से प्रवेश करने का सर्व उपाय बतला दिया। चक्रवर्ती ने भी उस कृतमाल देव का खूब

सत्कार करके प्रसन्नतापूर्वक उसे विदा कर दिया और आप गुफा के द्वार को खोलने में उद्यमशील हो गये और सेनापति को बुलाकर कहा—

"तुम गुफा का द्वार उघाड़कर जब तक गुफा शांत हो, तब तक पश्चिम खंड को जीतकर आओ।"

चक्रवर्ती की आज्ञा को माला के समान मस्तक पर धारण करता हुआ और कृतमाल देव के द्वारा बतलाये गये समस्त उपायों के प्रयोग में कुशल वह जयकुमार सेनापति कुछ घोड़े और सैनिकों के साथ दण्डरत्न हाथ में लेकर अश्वरत्न पर आरूढ़ होकर चल पड़ा। कुछ थोड़ी दूर जाकर सिन्धु नदी की वेदी को उल्लंघन कर विजयार्ध पर्वत की वेदी पर चढ़ा, फिर पश्चिम की ओर मुख कर गुफा के आगे जा पहुँचा। उसने उच्चस्वर से—

"चक्रवर्ती भरत की जय हो।"

ऐसा उच्चारण कर दण्डरत्न से जोर से गुफा के द्वार का ताड़न किया। उस समय दण्डरत्न की चोट से बहुत जोरों का शब्द हुआ और गुफा के द्वार खुल जाने से उसके भीतर से बहुत भारी गर्मी निकलने लगी। उसी क्षण वेगशाली अश्वरत्न उसे बहुत दूर तक भगा ले गया और देवताओं ने उसकी रक्षा की, इसलिए उस सेनापति को गुफा की गर्मी छू भी नहीं सकी। उस समय हर्ष से देवांगनाओं ने उसके ऊपर आकाश से पुष्प वर्षा की थी।

इसके पश्चात् वह जयकुमार सेनापति सीढ़ियों सहित विजयार्ध पर्वत के किनारे की वेदी को उल्लंघन करता हुआ तोरण सहित सिन्धु नदी के पश्चिम की ओर वाली वन की वेदिका के सम्मुख पहुँचा पुनः उस वेदिका को भी लांघकर अनेक पुर, ग्राम, खानि, सीमा और बाग-बगीचों से सुन्दर म्लेच्छ खण्ड की उत्तम भूमि में प्रविष्ट हुआ। सेना

सहित सेनापति के प्रवेश करते हुए बहुत से प्रजा के लोग घबड़ा कर यत्र-तत्र भागने लगे तथा कुछ बुद्धिमान, धीर, वीर लोग पवित्र अक्षत आदि से बने हुए अर्घ्य को हाथ में लेकर सेनापति के सन्मुख आकर उसका सत्कार करने लगे। उस समय भयभीत हुए लोगों को चक्रवर्ती के सेवकों ने—

"डरो मत, डरो मत।" ऐसा कहते हुए आश्वस्त किया।

अखंड आज्ञा को पालन करने वाला वह सेनापति प्रदक्षिणा रूप से म्लेच्छ खण्ड में घूमता हुआ जगह-जगह म्लेच्छ राजाओं से चक्रवर्ती की आज्ञा स्वीकृत करवाता जाता था तथा उन राजाओं को यह बतलाता जाता था कि "यह चक्रवर्ती का क्षेत्र है।" वे भरत चक्रवर्ती समीप में ही विराजमान हैं, तुम लोग अपनी-अपनी सेनाओं के साथ जाकर उन्हें नमस्कार कर उनकी सेवा करो।"

उस समय वे राजा लोग हर्ष से विभोर हो ऐसा बोलते थे कि—

"अहो! आज हम लोग बहुत दिनों बाद सनाथ हुए हैं।"

इसी बीच कुछ म्लेच्छ राजागण अपने थोड़े से ही ऐश्वर्य से उन्मत्त हुए अपनी सेना लेकर सेनापति के सामने आ गये थे तथा संधि, विग्रह, यान आदि छह गुणों से वे अपना पराक्रम दिखा रहे थे। उस समय सेनापति अपने तेज से उन्हें पराजित कर चक्रवर्ती की आज्ञा उनसे मनवाता जाता था और किले के भीतर रहने वाले कितने ही म्लेच्छ राजाओं को चारों ओर से उनका आवागमन रोक कर उन्हें वश में करता जाता था। इस प्रकार कुशल सेनापति ने अनेक उपायों के द्वारा उन म्लेच्छ राजाओं को वश में करके उनसे चक्रवर्ती के उपभोग के योग्य कन्या आदि अनेक रत्न भेंट में प्राप्त किए थे।

'ये लोग धर्मक्रियाओं से रहित हैं इसलिए म्लेच्छ माने गये हैं, धर्मक्रियाओं के अतिरिक्त अन्य आचरणों से ये लोग आर्यखंड में उत्पन्न होने वाले लोगों के समान हैं।"

इस तरह वह सेनापति म्लेच्छ भूमि को वश में कर बहुत-सी म्लेच्छ राजाओं की सेना के साथ वापस अपने गुफा द्वार के निकट आ गया। तोरणों सहित सिन्धु नदी के वन की वेदी को उल्लंघन कर वह सीढ़ियों सहित विजयार्ध पर्वत के वन की वेदी पर जा चढ़ा। इन छह महीनों में उस गुफा की गरमी भी बिल्कुल शांत हो चुकी थी अतः वह उसी गुफा के द्वार पर ठहर गया पुनः अनेक सेवकों द्वारा अनेक विघ्नों से भरे हुए उस गुफा के भीतरी भाग को उसने अच्छी तरह से स्वच्छ कराया पुनः वह चक्रवर्ती की छावनी की तरफ वापस लौटा।

सेनापति के वहाँ पहुँचने पर बड़े-बड़े राजाओं ने अपनी सेनाओं के साथ सामने आकर उसका स्वागत किया। उस समय बड़े जोरों से विजयसूचक नगाड़ों की ध्वनि हो रही थी। वहाँ पर मार्ग में अनेक तोरण बाँधे गये थे और अनेक ऊँची-ऊँची पताकाओं से वह राजमार्ग सजाया गया था। ऐसे राजमार्ग का उल्लंघन करता हुआ वह सेनापति दूर से ही घोड़े से उतर कर कुछ दूर पैदल चलकर सभा मण्डप में पहुँचा, जहाँ पर चक्रवर्ती सम्राट् अपने आसन पर आरूढ़ थे। वहाँ पहुँचते ही जयकुमार ने दोनों हाथ जोड़कर सम्राट् को नमस्कार किया।

उसी क्षण भय से विह्वल होते हुए बड़े-बड़े म्लेच्छ राजाओं ने भी पृथ्वी पर मस्तक टेककर—

"चक्रवर्ती भरत महाराज की जय हो, जय हो, जय हो!" ऐसा जयघोष करते हुए नमस्कार किया। उन म्लेच्छ राजाओं द्वारा उपहार में

लाये हुए रत्न आदि को सामने रखकर सेनापति ने उन राजाओं का नाम ले-लेकर सम्राट् को उन सबका परिचय कराया। महाराज ने प्रसन्नता के साथ उन सब राजाओं का यथायोग्य सत्कार किया। तदनंतर वे राजा लोग महाराज से अनुमति लेकर अपने-अपने स्थान पर वापस चले गये।

इस प्रकार चक्रवर्ती ने अपने पुण्यकर्म के उदय से केवल दण्डरत्न के द्वारा ही म्लेच्छ राजाओं को जबरदस्ती जीत लिया था, सो ठीक ही है क्योंकि पुण्य के बिना विजय कहाँ से हो सकती है? इधर अनेक राजागण प्रेमपूर्वक जयकुमार सेनापति का सत्कार कर रहे थे। चक्रवर्ती ने भी विजय के चिन्हों से उसको सम्मानित किया तथा आगे की विजय को प्राप्त करने के लिए अनेक सेनापतियों के मध्य उसी जयकुमार को पुनरपि प्रधान सेनापति के पद पर नियुक्त कर दिया।

जिसमें नवनिधियाँ और चौदह रत्न तथा उत्कृष्ट भोग-उपभोग की वस्तुओं के द्वारा सुखों का भार प्रगट रहता है, ऐसा यह चक्रवर्ती का पद जिसके प्रसाद से लीलामात्र में प्राप्त हो जाता है ऐसा यह जिनेन्द्र भगवान का शासन सदा जयवंत रहे।

कृतमाल देव ने चन्द्रमा की किरणों की हँसी करने वाला सुन्दर छत्र, सुवर्णमय दण्डों से युक्त दो मनोहर चामर, सुमेरु पर्वत के शिखर के समान सिंहासन आदि अनेक रत्न चक्रवर्ती को भेंट में दिये थे तथा अनेक दिव्य आभूषण भी प्रदान किये थे। उन अनुपम रत्न-आभूषणों से अलंकृत वे भरतेश्वर महाराज मणिनिर्मित सिंहासन पर विराजमान हुए एक अद्वितीय कल्पवृक्ष के समान अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे।

(१३)

सेनापति लोग चक्रवर्ती के चलने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हाथियों का समूह, घोड़ों के समूह, रथों के समूह और पैदल चलने वाले सैनिकों, इन सबकी भीड़ से केवल महाराज का आँगन ही नहीं भर गया किन्तु विजयार्ध पर्वत के वन भी भर गये। विजयी हाथी पर चढ़कर चकव्रर्ती विजयार्ध पर्वत की गुफा से उस ओर जाने के लिए निकल पड़े। उसी क्षण अनेक श्रेष्ठ राजाओं ने आकर उनके आजू-बाजू और पीछे चलना प्रारंभ कर दिया। समस्त सेना आगे बढ़कर विजयार्ध पर्वत की श्रेणी पर चढ़ गई।

उस पर्वत में तमिस्रा नाम की एक गुफा है जो कि पर्वत की चौड़ाई के बराबर लम्बी, आठ योजन ऊँची और बारह योजन चौड़ी है। इसमें छह-छह योजन चौड़े वज्रमयी दो दरवाजे हैं। इनकी चौखट महामूल्यवान रत्नों से बनी है, इस चौखट के नीचे से सिन्धु नदी निकलती है। इस गुफा के दरवाजे को चक्रवर्ती के सेनापति के सिवाय कोई उघाड़ नहीं सकता है।

सेनापति जयकुमार ने इसे उघाड़ कर स्वच्छ कर दी थी अत: अब इसकी गर्मी शांत हो चुकी थी। इसमें चक्रवर्ती की सेना को छोड़कर अन्य किसी का प्रवेश करना मना है। इस गुफा के द्वार पर चक्रवर्ती के पुरोहितों ने रक्षा की सर्व विधि सम्पन्न की और समीप में मंगलद्रव्य रख दिये। इस गुफा में कज्जल के समान गाढ़ अंधकार देखकर यह समस्त सेना दूर से ही भयभीत होने लगी। तब चक्रवर्ती की आज्ञा से सेनापति ने पुरोहित के साथ परामर्श करके उस अंधकार को दूर करने का उपाय सोचा।

उन्होंने गुफा के अंदर दोनों ओर की दीवालों पर काकिणी और

चूड़ामणि रत्न से एक-एक योजन की दूरी पर सूर्य और चन्द्रमा के मण्डल बना दिये। अब क्या था, वहाँ पर धूप (घाम) और चाँदनी दोनों मिल जाने से सब अंधकार नष्ट हो गया। तब उस गुफा में चक्रवर्ती के आगे-आगे चक्ररत्न चलने लगा और पीछे-पीछे सारी सेना चलने लगी। यह सेना सिन्धु नदी के प्रवाह को छोड़कर दो भागों में विभक्त होकर पूर्व तथा पश्चिम की ओर के दोनों मार्गों में सिन्धु नदी के जल का उपयोग करती हुई चल रही थी। इस तरह चलते हुए बहुत ही थोड़े समय में भरत महाराज ने गुफा की आधी भूमि तय कर ली। वहाँ पर 'उन्मग्नजला' और 'निमग्नजला' नाम की दो नदियाँ दोनों तरफ की दीवालों के कुंडों से निकलकर सिन्धु नदी में प्रविष्ट होती हैं। महाराज भरत उन दोनों नदियों के किनारे के समीप ही सेना ठहराकर बड़े ही कौतुक से उन नदियों की विषमता देखने लगे।

निमग्नजला नदी जो लकड़ी आदि को शीघ्र ही नीचे ले जा रही थी और उन्मग्नजला नदी सभी पदार्थ को ऊपर उछाल रही थी, यह दृश्य देखते हुए भरतेश्वर मन में सोचने लगे—

"इस उन्मग्नजला नदी को इसके नीचे रहने वाला महावायु ऊपर की ओर उछाल रहा है और इस निमग्नजला नदी को उसके ऊपर रहने वाला महावायु नीचे की ओर ले जा रहा है। यद्यपि ये दोनों नदियाँ परस्पर विरुद्ध हैं फिर भी किसी प्रकार यहाँ आकर सिन्धु नदी में मिल रही हैं। इन नदियों को तैरने का क्या उपाय है?"

ऐसा विचार करते ही उन्होंने उसी क्षण अपने स्थपति-सिलावट रत्न को बुलाया। उसने उन नदियों को देखकर क्षण भर में ही उन्हें अंजलि भर जल के समान तुच्छ समझा और पुल बाँधने के लिए

प्रयत्नशील होता हुआ उसने अपने आश्रित देवों द्वारा सघन जंगलों से बड़े-बड़े वृक्ष मँगवाये और मजबूत लकड़ियों द्वारा जल के भीतर मजबूत खंभे खड़े कर क्षणमात्र में ही उन पर पुल तैयार कर दिया। पुल तैयार होते ही सेना के लोगों ने आनन्द से कोलाहल किया और उसी समय चक्रवर्ती के साथ-साथ समस्त सेना पुल से दोनों नदियों को पारकर उस किनारे पर जा पहुँची। दूसरे दिन महाराज भरत ने अनेक राजाओं के साथ-साथ उसी जलमय महामार्ग से भी कठिन रास्ता लीलामात्र में तय कर लिया।

अनंतर कितने ही मुकाम चलकर और उस पर्वतरूपी दुर्ग को उल्लंघन कर वे उस गुफा के उत्तर-द्वार पर जा पहुँचे। उसी क्षण आगे चलते हुए हाथियों के समूह ने उस उत्तर-द्वार को अपनी ताकत से उघाड़ दिया। तब चक्रवर्ती के साथ ही समस्त सेना उस गुफा के बाहर निकली और उस पर्वत के वन की भूमि में अपने-अपने डेरे डाल दिये। उस समय सेना के लोग ऐसा समझ रहे थे कि मानो चिरकाल तक माता के गर्भ में निवास करते हुए हम लोग आज पुनर्जन्म को प्राप्त हुए हैं। उस समय वह वन भी सुगंधित वायु से उन सबको सान्त्वना देते हुए के समान ही ऋतुओं के नाना फल-फूलों से उन सबका मानो स्वागत ही कर रहा था और चक्रवर्ती के आगमन से संतुष्ट होकर अपनी शाखाओं के अग्रभाग को हिलाते हुए मानो नृत्य कर रहा था। तब प्रसन्न हुए चक्रवर्ती ने उस वन में बहुत दिनों तक विश्राम किया था।

सेनापति जयकुमार ने चक्रवर्ती की आज्ञा पाकर पहले के समान ही यहाँ के पश्चिम म्लेच्छ खण्ड को जीतने के लिए प्रस्थान कर दिया। कुछ ही दिनों में कुशलतापूर्वक समस्त म्लेच्छ राजाओं को जीतकर वह

उनसे अनेक रत्न, हाथी, घोड़े आदि वस्तुएँ चक्रवर्ती के लिए भेंट में प्राप्त कर वापस आकर चक्रवर्ती से मिला। तब महाराज भरत अपनी समस्त सेना के साथ मध्यम म्लेच्छ खण्ड को जीतने के लिए निकल पड़े।

यद्यपि सम्राट् भरत सूर्य के समान उत्तर दिशा की ओर निकले थे तथापि पृथ्वी का संताप दूर कर दिया था अर्थात् सूर्य उत्तर दिशा में पहुँचकर अपनी कर—किरणों से लोगों को पीड़ित करता है, पृथ्वी का रस-जल सुखा देता है और मनुष्यों को संतप्त करता है। इस प्रकार से भरत सम्राट ने अपने कर—टैक्स से लोगों को पीड़ित नहीं किया था, न पृथ्वी का रस-आनन्द सुखाया था और न मनुष्यों को संतप्त—दुःखी ही किया था प्रत्युत् अपने प्रभाव से सबको सुखी किया था। उनकी सेनाओं में चक्रव्यूह आदि अनेक व्यूहों की रचना की गयी थी, ये सब सेनाएँ परस्पर में एक-दूसरे से मिली हुई थीं अतः स्वच्छंदता पूर्वक यत्र-तत्र भ्रमण नहीं करती थीं। इस सेना ने अनेक किले अपने वश में कर लिये, अनेक उद्दंड राजाओं को अधीन किया और अनेक देश घेर लिए।

"बलवान् के साथ युद्ध नहीं करना, शरण में आए हुए की रक्षा करना और अपनी पृथ्वी की रक्षा करने में प्रयत्न करना, ये ही विजय के इच्छुक राजा के लिए उचित आचरण है।"

इस प्रकार चक्ररत्न को आगे करके चलते हुए चकव्रर्ती ने अपने पराक्रम से वहाँ की बहुत-सी भूमि को अपने अधीन कर लिया था।

इधर चिलात और आवर्त नाम के दो म्लेच्छ राजाओं ने शत्रुओं की सेना द्वारा अपनी सेना का पराभव सुनते ही मिलकर आपस में निर्णय किया कि—

"हमें अपनी-अपनी सेना लेकर आये हुए संकट का प्रतिकार करना चाहिए।"

बस क्या था, इन दोनों ने धनुर्धारी योद्धा और हाथी-घोड़े समेत अपनी-अपनी सेना एकत्रित कर ली और क्रोध के आवेश में आ गये। यह देखकर मंत्रियों ने आकर उन्हें युद्ध के उद्यम से रोककर समझाना शुरू किया—

" हे प्रभो! विजय के इच्छुक जनों को बिना विचारे सहसा कोई काम नहीं करना चाहिए। सोचो तो सही, हमारे देश को घेरने वाला यह कौन राजा है? कहाँ से आया है? और इसकी सेना कितनी बड़ी है? अहो! विजयार्ध पर्वत को उल्लंघन करके सेना समेत आने वाला कोई साधारण मनुष्य नहीं हो सकता है। या तो कोई देव होगा, या दिव्य प्रभा का धारक कोई महापुरुष होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसलिए युद्ध की बात तो बहुत दूर अपने को किसी दुर्ग—किले का आश्रय लेकर अपनी रक्षा करनी चाहिए।

राजन् ! हिमवान् पर्वत से विजयार्ध पर्वत तक और पूर्व-पश्चिम में गंगा नदी से लेकर सिन्धु नदी तक यह हमारा क्षेत्र स्वभाव से ही किले के समान है। इसका पराभव भला कौन कर सकता है?

तब दोनों ही राजा बोले—

"अरे! शत्रु की बहुत बड़ी सेना सिर पर है, भला हम लोग किले में जाकर कैसे बैठ जाएँ? हमारा देश और हमारी प्रजा कैसे सुरक्षित रहेगी?"

तब मंत्रियों ने कहा—

"राजन्! आपका कहना सत्य है।....हमारी समझ में, ऐसा आ रहा है कि अपनी कुल परम्परा से चले आये नागमुख और मेघमुख नाम

के जो देव हैं, वे शत्रु की सेना को अवश्य ही रोक लेंगे।"

इतना सुनते ही दोनों राजाओं के मुखकमल खिल उठे। प्रसन्नता से भरे दोनों ने कुछ परामर्श करके शीघ्र ही उन देवों की पूजा कर उनका आह्वान किया। आह्वान के अनंतर नागमुख देव बादलों का आकार धारण कर घनघोर गर्जना करते हुए चारों ओर से झंझावायु के साथ-साथ जल की वृष्टि करने लगे। मेघों के द्वारा बरसता हुआ वह जल भरतेश्वर की सेना को चारों तरफ से डुबोकर सब तरह से बहाने लगा। वह जल इतना अधिक बरसा था कि बाहर एक समुद्र-सा बन गया था, फिर भी चक्रवर्ती के शिविर (छावनी) में वस्त्र का एक टुकड़ा भिगोने योग्य भी वृष्टि नहीं हुई थी।

उस समय भरतेश की आज्ञा से सेना के ऊपर छत्ररत्न लगाया गया था और नीचे चर्मरत्न रखा गया था। उन दोनों रत्नों से घिरकर रुकी हुई सेना ऐसी मालूम होती थी मानों चारों ओर से सिल दी गई हो। उस जल के प्रवाह में चक्रवर्ती की वह सेना सात दिन तक दोनों रत्नों के भीतर ठहरी हुई ठीक अण्डा के समान जान पड़ रही थी और उसके अन्दर चक्ररत्न के द्वारा प्रकाश किया जा रहा था। वह सेना बारह योजन लम्बे-चौड़े अण्डाकार तम्बू में ठहरी हुई सब तरह की पीड़ा से रहित थी।

(१४)

इस अंडाकार तम्बू में चक्ररत्न के द्वारा प्रकाश हो रहा था। इसमें चारों दिशाओं में चार बड़े दरवाजे बनाए गये थे। इसके भीतरी भाग की अन्य सेनापति रक्षा कर रहे थे और बाहर से जयकुमार सेनापति रक्षा कर रहे थे। उस समय सिलावट रत्न के अनेक प्रकार के कपड़ों से तम्बू, घास की झोंपड़ियाँ और आकाश में चलने वाले रथ भी तैयार किये गये थे।

इधर इस चर्मरत्न के विशाल तम्बू में ठहरी हुई सेना को देखकर और बाहर कोलाहल सुनकर, 'यह क्या है?' इस प्रकार से कहते हुए राजाओं ने क्रोधित होकर अपना हाथ तलवार की ओर बढ़ाया। तभी चक्रवर्ती ने गणबद्ध जाति के देवों को आदेश दिया कि —

"आप लोग शीघ्र ही इन उपद्रव करने वाले देवों का प्रतीकार कीजिए।"

चक्रवर्ती का आदेश पाते ही इन गणबद्ध जाति के देवों ने क्रुद्ध होकर अपने हुंकार शब्दों के द्वारा ही झणभर में उन नागमुख देवों को भगा दिया। अतिशय बलवान कुरुवंशी जयकुमार ने भी दिव्य रथ पर बैठकर सिंह गर्जना करते हुए, दिव्य शस्त्रों के द्वारा उन देवों को जीत लिया। उस समय अनेक देवों ने प्रसन्न होकर जयकुमार के पराक्रम की प्रशंसा करते हुए उसे 'मेघेश्वर' इस नाम से अलंकृत किया और चक्रवर्ती ने भी बार-बार जयकुमार की प्रशंसा करते हुए उसका यथोचित सत्कार कर उसे 'मुख्य शूरवीर' के पद पर नियुक्त किया। इन्द्रजाल के समान नागमुख देवों का उपद्रव शांत हो जाने पर भरत महाराज की सेना स्वस्थता को प्राप्त हो गई। तब वे दोनों चिलात और आवर्त नाम के म्लेच्छ राजा निर्बल हो घबड़ा कर चक्रवर्ती के चरणों के समीप आकर प्रणाम करके बोले —

" हे देव! प्रसन्न होइये और हमारे अपराध को क्षमा कीजिए। हम लोग तुच्छ प्राणी आपके दिव्य माहात्म्य को नहीं समझ कर ही ऐसा घृणित अपराध करने पर तुले थे। अब हम सभी म्लेच्छ राजा आपके दास हैं, आप हमें चाहे जिस कार्य में नियुक्त कर सेवा का अवसर दीजिए।"

ऐसा निवेदन करते हुए उन राजाओं ने चक्रवर्ती के सामने भेंट रूप में बहुत-सा धन लाकर रख दिया।

समस्त पृथ्वी को शत्रुरहित करते हुए प्रथम निधिपति चक्रवर्ती ने फिर अपनी सेना के साथ-साथ हिमवान् पर्वत के किनारे तक गमन किया और धीरे-धीरे वे सिन्धु प्रपात कुंड के पास पहुँचे। सिन्धु देवी महाराज भरत को अपने निवास स्थान के समीप आया हुआ जानकर रत्नों का अर्घ्य लेकर अपने परिवार के साथ उनके पास आई। उनका स्वागत कर उन्हें भद्रासन पर बिठाया पुनः परिवार देवियों के साथ मिलकर उसने स्वयं सुवर्ण के सैकड़ों कलशों में भरे हुए सिन्धु नदी के पवित्र जल से महाराज भरत का अभिषेक किया। इसके बाद उस देवी ने मंगलरूप वस्त्राभूषण पहने हुए सम्राट् को विजय सूचक आशीर्वादों से आनन्दित किया और कहने लगी—

"हे चक्रवर्तिन् ! हे देव! मैं आज आपके दर्शन से पवित्र हो गई हूँ। आप प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पुत्र हैं और इस युग में छह खण्ड वसुधा के प्रथम विजेता दिग्विजयी सार्वभौम सम्राट् हैं। राजाधिराज! आपकी सदा ही जय हो! विजय हो!"

भरत ने भी सिन्धुदेवी की प्रशंसा कर यथोचित वार्तालाप करके उससे दिव्य भद्रासन को प्राप्त कर आगे के लिए प्रस्थान कर दिया। प्रस्थान में कुछ दूर तक सिन्धु देवी उनके साथ आई थीं अनंतर भरत ने सम्मान पूर्वक देवी को विदा कर दिया।

सम्राट् भरत हिमवान् पर्वत के समीप पहुँचकर उसके किनारों पर रहने वाले म्लेच्छ राजाओं को जीतते हुए कितने ही मुकाम चलकर हिमवत् कूट के निकट जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने पुरोहित के साथ-साथ विधिवत् उपवास करके अपने दिव्य अस्त्रों की पूजा की पुनः डाभ की पवित्र शैय्या पर शयन किया। वहाँ उस समय अस्त्रों की पूजा करना यह

एक प्रकार की विधि ही है, कुछ चक्रवर्ती का असमर्थपना नहीं है।[1]"

पुनः अगले दिन प्रातःकाल राजाओं से सम्मान को प्राप्त करते हुए भरत महाराज ने बिना प्रयत्न के ही अपना वज्रकांड नाम का धनुष डोरी से सहित किया और वैशाख नाम का आसन लगाकर खड़े हो गये पुनः अपने नाम के अक्षरों से चिन्हित के साथ हिमवान् देव ने महाराज भरत का पद्म सरोवर के जल से भरे सुवर्ण कलशों से अभिषेक किया, अनेक उत्तमोत्तम आभूषण आदि धारण कराये, अनन्तर बहुत-सी औषधियों के साथ-साथ गोशीर्ष नाम का चन्दन समर्पित किया पुनः उसने सब देवों की ओर संकेत करते हुए कहा—

"हे देव! आपके क्षेत्र में रहने वाले ये सभी देव आपकी प्रसन्नता की इच्छा करते हुए दूर से ही मस्तक झुकाकर आपको नमस्कार कर रहे हैं। इसलिए हे देव! हम लोगों पर प्रसन्नता की दृष्टि डालिये। हे स्वामिन् ! आप उचित आज्ञाओं के द्वारा हम लोगों को कार्य सौंपिये क्योंकि सेवक लोग स्वामी की आज्ञा मिलने को आजीविका की प्राप्ति से भी कहीं बढ़कर मानते हैं।

इस तरह हिमवान् देव की विनयवृत्ति से प्रसन्न हुए सम्राट् भरत ने उन सभी देवों का यथोचित सम्मान करके उनको विदा कर दिया।

उस समय वहाँ पर वन की लतागृहों में क्रीड़ा करने वाले व्यंतर देव अपनी इच्छानुसार स्वरों का चढ़ाव-उतार करते हुए "भरत" ने हिमवान् देव को जीत लिया है।" इस बात को सूचित करने वाले

१. परोहितसखस्तत्र कृतोपवसनक्रियः।
अध्यशेत शुचिं शय्यां दिव्यस्त्राव्यधिवासमन् ।।८५।।
विधिरेष न चाशक्तिरिति......-आदिपुराण, पर्व ३२

मंगलगीत गा रहे थे, जिसे भरत महाराज बड़े कौतुक से सुन रहे थे। स्थल कमलनियों (गुलाब पुष्पों) के वन के चारों ओर केशर की रज को फैलाता हुआ और तालाब की तरंगों को छिन्न-भिन्न करता हुआ सुगन्धित पवन धीरे-धीरे बहता हुआ निकट आ-आकर भरत महाराज की सेवा कर रहा था। सभी कार्यों से निवृत्त हो भरत महाराज निकले और हिमवान् पर्वत की शोभा को बड़े ही आदर से देखने लगे, तभी उनके साथ चलते हुए पुरोहित ने कहना प्रारंभ किया—

"हे प्रभो! यह हिमवान् पर्वत बहुत ही ऊँचा है और कुल-पर्वतों में श्रेष्ठ है।

अहो! आश्चर्य है कि यह बड़ा भारी पर्वत जो कि कठिनाई से चढ़ने योग्य है और जिसका पार होना अत्यन्त कठिन है, वह डोरी पर बाण रखते ही आपके पुण्य प्रताप से आपके वश में हो गया। यह सुवर्णमयी श्रेणी अनेक प्रकार के रत्नों से सुशोभित हो रही है, सौ योजन ऊँची है और ऐसी जान पड़ती है मानो टंकी से गढ़ दी गई हो। तब भरत ने अपने पूर्व और पश्चिम के कोनों से 'लवणसमुद्र' में प्रवेश कर पड़ा हुआ तथा ऊपर की ओर जाने वाला अपना अमोघ दिव्य बाण उस धनुष पर रखा। जैसे ही सिंहनाद सदृश गर्जना करते हुए भरत ने यह बाण छोड़ा, उसी क्षण देवों का समूह संतुष्ट होकर उनके ऊपर पुष्पांजलि करने लगा।

उधर अस्खलित गति से यह बाण ऊपर दूर तक जाकर वहाँ पर रहने वाले देव के भवन में पहुँचकर उस भवन को हिलाता हुआ आँगन में जा पहुँचा। पहले तो—

"यह क्या है? किसने यह साहस किया है?"

ऐसा विचार कर सहसा क्रोध में आकर हिमवान् देव ने अपने

दिव्य अवधिज्ञान से जानने का प्रयास किया। जब उसने चक्रवर्ती का आगमन जाना, तब अपने क्रोध को रोककर अनेक परिवार देवों के साथ परामर्श करके उस बाण को दिव्य पिटारे में रखकर और साथ में अनेक भेंट सामग्री लेकर तत्क्षण ही चक्रवर्ती के समीप आ गया और प्रणाम कर बोला—

"हे देव? यह हिमवान् पर्वत अत्यन्त ऊँचा है और साधारण पुरुषों द्वारा उल्लंघन करने योग्य नहीं है। फिर भी आज आपने इसका उल्लंघन कर दिया है इसलिए आपका चरित्र मनुष्यों को उल्लंघन करने वाला लोकोत्तर ही है। हे देव! बहुत दूर बने हुए हम लोगों के पास आवास कहाँ और आपका बाण कहाँ? फिर भी हमारे आंगन में पड़ते हुए आपके इस बाण ने हम सबको एक साथ कंपित कर दिया है। हे सार्वभौम! यह आपका प्रताप बाण के बहाने से आकाश में उछलता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानो हम लोगों को गणबद्ध (चक्रवर्ती के अधीन रहने वाली एक प्रकार की देवों की सेना) देवों के स्थान पर नियुक्त होने के लिए ही बुला रहा है। आपने समुद्र को भी जीत लिया है और विजयार्ध पर्वत की गुफाओं के भीतर भी आक्रमण कर लिया है। ऐसा यह आपका विजय करने का उद्यम आज हिमवान् पर्वत के शिखरों पर भी फैल रहा है, हे प्रभो! आपका समस्त दिग्विजय सिद्ध हो चुका है, इसलिए हे जयशील! आपकी जय हो, आप समृद्धिमान् हों और सदा बढ़ते रहें, इस प्रकार आपकी जय-जयकार बोलना तो पुनरुक्त ही होगा।'

इस प्रकार जय-जय शब्दों से वाचालित हुए अनेक देवगणों से ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो पृथ्वी के नापने का एक दण्ड ही है।

हे भरत श्रेष्ठ! यह श्रेष्ठ पर्वत भरत क्षेत्र से दूने विस्तार वाला है।

(५२६ ६/१९ योजन ×२=२०,००,०००/१९) और मूल, मध्य तथा ऊपर तीनों भागों में इसका समान विस्तार है। इस पर्वत पर ग्यारह-कूट शिखर हैं और प्रत्येक शिखर पर वनपंक्ति शोभित हो रही हैं। इन शिखरों पर सिद्ध, विद्याधर और नागकुमार देव-निरन्तर भ्रमण किया करते हैं। चित्र-विचित्र मणियों से निर्मित इस पर्वत के दोनों पार्श्वभाग के प्रदेश बहुत ही रमणीय दिख रहे हैं। उनके भीतर क्रीड़ा करती हुई देवांगनाओं के प्रतिबिंब ऐसे झलकते हैं कि मानो उनके चित्र ही इनमें उकेरे गये हों।

इस पर्वत के मस्तक—शिखर पर ठीक बीच में 'पद्म' नाम का वह सरोवर है कि जिसमें 'श्रीदेवी' का निवास है। यह श्रीदेवी वही है जो कि तीर्थंकर की माता की अर्थात् आपकी दादी मरुदेवी की सेवा के लिए अयोध्या में आई थीं। इस सरोवर में स्वच्छ जल भरा हुआ है और इसमें पृथ्वीकायिक सुवर्णमयी कमल फूल रहे हैं। यह हिमवान् पर्वत क्रम से इस पद्म सरोवर के पूर्व तथा पश्चिम तोरण से निकलती हुई गंगा और सिन्धु नाम की महानदियों को धारण करता है। इसी पद्म सरोवर के उत्तम तोरण द्वार से निकल कर उत्तर की ओर गई और हैमवत क्षेत्र में बहने वाली 'रोहितास्या' नदी को भी यह पर्वत धारण किये है। यह इन तीन अलंघ्य महानदियों से ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो उत्साह, मंत्र और प्रभुत्व इन तीन शक्तियों से अपना 'भूभृद्भाव' अर्थात् राजापना पक्ष में पर्वतपना ही प्रगट कर रहा हो। इस पर्वतराज पर देवों के अनेक आवासगृह हैं जो कि अपनी शोभा से स्वर्ग की बहुत भारी शोभा की भी हँसी करते हैं।''

इत्यादि प्रकार से पर्वत की वर्णना सुनते हुए भरत महाराज ने उस पर्वत को बड़ी देर तक देखा, अनन्तर अपने निवास की ओर वापस लौट आये।

(१५)

सम्राट् भरत हिमवान् देव को वश में करके वृषभाचल पर्वत की ओर बढ़े। यह पर्वत सौ यौजन ऊँचा, मूल में सौ योजन चौड़ा एवं ऊपर के भाग में पचास योजन चौड़ा है। इसके ऊपर नाग, सहजना, नागकेश, केला आदि के वृक्ष शोभा को बढ़ा रहे हैं। यहाँ पर लतागृहों में आकाशगामी विद्याधर तथा देवगण सदा क्रीड़ा किया करते हैं। यह पर्वत श्वेत वर्ण का है और कल्पांत काल तक कभी नष्ट नहीं होने वाला है अर्थात् अनादि-अनिधन है। ऐसे इस पर्वत को अपने यश की राशि के समान देखकर महाराज भरत बहुत ही आनन्दित हुए। वहाँ पर भरत ने पर्वत के किनारे अपनी विशाल सेना ठहराई। उस समय वहाँ पर्वत की तलहटी में विश्राम करते हुए विद्याधर, नागकुमार तथा किन्नर जाति के देव-देवियाँ भरत महाराज का यशोगान कर रहे थे, जिसे उन्होंने बड़े प्रेम से सुना। स्फटिक के समान निर्मल और विजयलक्ष्मी के मुख देखने के लिए मंगलमय दर्पण के समान उस वृषभाचल के किनारे की दीवारें भरत महाराज का मन हरण कर रही थीं।

समस्त पृथ्वी को जीतने वाले भरत को उस पर्वत के किनारे की शिला पर अपने नाम के अक्षर रूप प्रशस्ति लिखने में बहुत ही प्रसन्नता हुई। चक्रवर्ती भरत ने अपना काकिणी रत्न लेकर ज्यों ही वहाँ कुछ लिखने की इच्छा की, त्यों ही वहाँ उन्होंने हजारों चक्रवर्ती राजाओं के लिखे हुए नाम देखे। असंख्यात् करोड़ कल्पों में जो चक्रवर्ती हो चुके थे, उन सबके नामों से भरे हुए उस वृषभाचल को देखकर चक्रवर्ती भरत अवाक् रह गये। उनका अपने चक्रवर्तित्व का अभिमान चूर हो गया। वे आश्चर्यचकित हो सोचने लगे—

"अहो! इस भरत क्षेत्र की पृथ्वी पर अनन्य शासन नहीं है अर्थात् जिस पर किसी दूसरे का शासन न चलता हो, ऐसी नहीं है" पुनः कुछ क्षण सोचकर उन्होंने पुरोहित की सलाह के अनुसार नियोगवश एक चक्रवर्ती की प्रशस्ति को स्वयं अपने हाथ से (दण्डरत्न लेकर) मिटाया और पुनरपि विचार करने लगे—

"अहो! यह समस्त संसार सर्वथा स्वार्थपरायण ही है।"

अनंतर चक्रवर्ती ने अपने हाथ के तलभाग के समान चिकने उस शिलापट्ट पर अपनी प्रशस्ति लिखना प्रारंभ किया—

"स्वस्ति श्री इक्ष्वाकुवंशरूपी आकाश का चन्द्रमा और चारों दिशाओं की पृथ्वी का स्वामी मैं भरत हूँ, मैं अपनी माता यशस्वती के सौ पुत्रों में से सबसे बड़ा पुत्र हूँ, श्रीमान् हूँ, मैंने समस्त विद्याधर, देव और भूमिगोचरी राजाओं को नम्रीभूत किया है, प्रजापति भगवान ऋषभदेव का पुत्र हूँ, मनु हूँ, मान्य हूँ, शूरवीर हूँ, पवित्र हूँ, उत्कृष्ट बुद्धि का धारक चरमशरीरी हूँ, धीर-वीर हूँ, चक्रवर्तियों में प्रथम हूँ और इसके सिवाय मैंने दिग्विजय के समस्त पृथ्वीमण्डल की परिक्रमा दी है, मेरे जल और स्थल में चलने वाले अट्ठारह करोड़ घोड़े हैं, मेरी विजयी सेना में चौरासी लाख मदोन्मत्त हाथी हैं, समस्त दिशाओं को वश में कर लेने से मेरा निर्मल यश कुलपर्वतों के मध्य भाग में देवगण गाते रहते हैं, दिग्विजय के समय चक्ररत्न के पीछे-पीछे चलती हुई मेरी सेना ने हिमवान् पर्वत की तलहटी का उल्लंघन कर दिशाओं के अंत भाग में आकर विश्राम लिया है, ऐसा मैं चौदहवें कुलकर श्री नाभिराज का पौत्र हूँ और प्रथम तीर्थंकर आदिब्रह्मा का पुत्र हूँ, मैंने छह खंडों से सुशोभित इस समस्त पृथ्वी का पालन किया है और समस्त राजाओं को जीतने

वाला हूँ, ऐसे मुझ भरत ने लक्ष्मी को नश्वर समझकर जगत् में फैलने वाली अपनी कीर्ति को इस पर्वत पर स्थापित किया है।[१]"

इस प्रकार चक्रवर्ती ने अपनी प्रशस्ति स्वयं अक्षरों द्वारा लिखी। जिस समय चक्रवर्ती प्रशस्ति लिख रह थे, उस समय देवगण उन पर फूलों की वर्षा कर रहे थे, आकाश में जोर-जोर से गंभीर नगाड़े बजा रहे थे और—

"चक्रवर्ती भरत की जय हो, जय हो, आप सदा बढ़ते रहें।"

इत्यादि जय-जय की ध्वनि से आकाश को गुंजायमान कर रहे थे। गंगा नदी के जल के कणों को धारण करती हुई तथा कल्पवृक्षों के सघन वन को हिलाती हुई वायु धीरे-धीरे बह रही थी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि—

"भरत महाराज ने अपने नाम के अक्षरों की पंक्ति केवल शिला की दीवाल पर ही नहीं लिखी थी किन्तु उन्होंने काले चिन्ह के बहाने से चन्द्रमा के मंडल में भी लिख दी थी। अन्य प्रशस्तियों के समान ही भरत की इस प्रशस्ति में लेख, साक्षी और उपभोग करने योग्य क्षेत्र, ये तीनों ही बातें थीं क्योंकि लेख तो वृषभाचल पर लिखा ही गया था, दिग्विजय करने से छह खण्डरूप भरतक्षेत्र, उपभोग करने योग्य क्षेत्र था और असंख्यातों देवगण साक्षी थे।"

उस समय बहुत से देवगण भरत का यशोगान करते हुए कह रहे थे—

"अहो! यह चक्रवर्ती बड़ा प्रतापी है, क्योंकि इसने समस्त दिशाओं को जीतते समय पूर्व-पश्चिम और दक्षिण के तीनों समुद्रपर्यंत समस्त भूमण्डल पर आक्रमण किया है। यद्यपि विजयार्ध पर्वत उल्लंघन करने

१. आदिपुराण, पर्व ३२।

योग्य नहीं था, फिर भी इसने इसे लीलामात्र में ही उल्लंघन कर दिया है, इसकी कीर्ति स्थल कमलिनी के समान हिमालय (हिमवान्) पर्वत के शिखर पर आरूढ़ हो गई है।''

ऐसे ही विद्याधर लोग भी अपनी स्त्रियों सहित भरत महाराज की कीर्ति का गान करते हुए तृप्त नहीं हो रहे थे।

(१६)

पुनः देवों द्वारा उत्साहित किए जाने पर अपने विजय के उद्योग को कम न करते हुए भरत महाराज गंगापात के सम्मुख इस प्रकार आये, मानों उसके शब्दों के द्वारा बुलाये ही गये हों। हिमवान् पर्वत के पद्मसरोवर के पूर्वतोरण द्वार से जहाँ गंगानदी नीचे गिरती है, वहाँ पर जो कुण्ड है उसी का नाम 'गंगापात' या 'गंगाप्रपात' है। वहाँ पर वेग से पड़ते हुए गंगाजल के कण अतिशय रूप से ऊपर को उछल रहे थे और कुंड में भँवरें उठ रही थीं। भरत महाराज उन्हें बड़े कौतूहल से देख रहे थे। गंगा देवी ने भरत चक्रवर्ती को अपने स्थान के निकट आया जानकर बड़े ही आदर से हाथ में अर्घ्य लेकर आगे आकर भरत महाराज का सत्कार किया पुनः उन्हें एक उत्तम सिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुख कर बैठाया और चन्द्रमा की किरणों से भी श्वेत, स्वच्छ, पवित्र गंगानदी के जल से भरे हुए सुवर्णघटों से उनका अभिषेक किया। उस समय गंगादेवी के परिवार की देवियाँ मंगलगीत, संगीत, तुरही आदि मंगल वाद्य तथा आशीर्वाद के उत्तम वचनों से भरत के मंगल अभिषेक की शोभा बढ़ा रही थीं। इसके बाद गंगादेवी ने भरत को बहुत से उत्तम-उत्तम वस्त्र-आभूषण आदि भेंट किए तथा सुमेरु के शिखर के समान ऐसा एक सिंहासन भी उसने भरत के लिए समर्पित किया और पुनः बोली —

''हे चक्रवर्ती! हे महाभाग! हे महाराज भरत! आप चिरकाल तक वृद्धिंगत होते रहें, आप और अधिक समृद्धिशाली हों, चिरकाल तक जीवित रहें और चिरकाल तक आनंदित रहें।''

ऐसे नाना प्रकार के आशीर्वाद शब्दों का उच्चारण करके भरत के द्वारा सम्मान को प्राप्त कर वह देवी अपने स्थान को चली गई।

अनन्तर अपनी सेना के साथ गंगा के किनारे-किनारे जाते हुए महाराज भरत की अनेक देश के राजाओं ने और गंगा नदी के जल की बूँदों को धारण करने वाले वायु ने सेवा की थी। सर्वत्र दिग्विजय में चक्रवर्ती के पीछे से आती हुई वायु चक्रवर्ती की अनुकूलता को धारण करी। प्रत्येक पड़ाव पर उन-उन देशों के राजाओं द्वारा अनेक प्रकार की भेंट को प्राप्त करते हुए भरत महाराज उत्तर-भरत क्षेत्र की समस्त पृथ्वी को वश में कर फिर से विजयार्ध पर्वत की तराई में आ पहुँचे। वहाँ पर सेना को ठहरा कर चकव्रर्ती ने सेनापति को आज्ञा दी कि —

''शीघ्र ही गुफा का द्वार उघाड़ कर पूर्व खण्ड की विजय प्राप्त करो।'' यह सुनकर सेनापति जब तक म्लेच्छ राजाओं को जीतकर वापस आया, तब तक सुखपूर्वक रहते हुए भरत महाराज ने वहीं पर छह माह व्यतीत कर दिये। विजयार्ध पर्वत की दक्षिण और उत्तर श्रेणी पर निवास करने वाले विद्याधर लोग अपने-अपने राजाओं के साथ महाराज भरत का दर्शन करने के लिए वहीं पर आये। नमि और विनमि ये दोनों ही विद्याधरों के प्रमुख स्वामी थे, ये भी भरत महाराज के समीप आये और अन्य किसी को दुर्लभ ऐसी वहाँ की मुख्य धन-सम्पत्ति भेंट में लाये।

राजा नमि ने अपनी बहन सुभद्रा नाम की कन्यारत्न को लाकर विद्याधरों के योग्य मंगलाचार-विधिपूर्वक चक्रवर्ती भरत के साथ उसका

मंगल विवाह सम्पन्न किया। इन नमि-विनमि राजाओं से स्त्रीरत्न आदि भेंट को प्राप्त कर चक्रवर्ती भरत ने बहुत ही संतोष प्राप्त किया और जीवन को तथा दिग्विजय को सफल माना।

इतने में ही समस्त म्लेच्छ राजाओं को जीतकर सेनापति ने जयलक्ष्मी को आगे कर भरत महाराज के दर्शन किये। अपना कार्य पूर्ण कर आये हुए सेनापति का भरत महाराज ने यथोचित सम्मान किया, पुनः उनके साथ में आये हुए म्लेच्छ राजाओं को दान-मान से संतुष्ट कर विदा कर दिया और आप स्वयं दक्षिण पृथ्वी की ओर जाने के लिए तैयार हो गये। उस समय विजय के लिए प्रस्थान की सूचना देने वाली भेरियाँ बजने लगीं।

चक्ररत्न को आगे कर सेना के साथ महाराज भरत ने पहले ही उघाड़ी हुई 'कांकड़ प्रपात' नाम की प्रसिद्ध गुफा में प्रवेश किया। वह सेना उस गुफा के भीतर गंगा नदी के दोनों किनारों की दो बड़ी-बड़ी गलियों में से चलती हुई कुछ ही दिनों में गुफा के बाहर आ गई। वहाँ 'नाट्यमाल देव' ने दक्षिण गुफा के द्वार पर पूर्ण कलश आदि मंगल द्रव्य रखकर तथा रत्नों के अर्घ्य देकर भरत महाराज की अगवानी की थी तथा अनेक स्तुति शब्दों से प्रशंसा करते हुए नाट्यमाल देव का यथोचित आदर कर भरत महाराज ने उसे विदा कर दिया।

अनेक विद्याधर राजा उस समय धनुषबाण लेकर आकाश में स्थित होकर भरत महाराज की परिचर्या करते हुए प्रसन्न हो रहे थे। जब भरत महाराज गुफा से बाहर आये थे, तब सेना आदि को ठहरने के लिए डेरों की रचना शुरू हो गई थी और सेनापति ने सब राजाओं को तथा सेना के लोगों को यथास्थान ठहरा दिया था।

इस प्रकार भरत सम्राट् ने चिलात और आवर्त नाम के दोनों म्लेच्छ राजाओं को जीतकर हिमवान् पर्वत के स्वामी हिमवान् देव को जीता। गंगा-सिन्धु दोनों देवियों से प्रणाम, सम्मान और अभिषेक प्राप्त कर दो दिव्य सिंहासन प्राप्त किये और विजयार्धपर्वत को लीलामात्र में जीतकर नमि-विनमि राजाओं से प्रणाम प्राप्त कर उनसे सुभद्रा नाम के स्त्रीरत्न को लेकर और समस्त पृथ्वीमंडल को अपने वश में करके वापस अपने देश की तरफ चल पड़े।

(१७)

चक्रवर्ती भरत अपनी विशाल सेना के साथ अयोध्यापुरी की ओर प्रस्थान करने के लिए अतीव ऊँचे 'विजयपर्वत' नाम के हाथी पर सवार होकर निकले। अब तक साठ हजार वर्ष के दिग्विजय काल में इन्हें नव निधि और चौदहरत्न सिद्ध हुए थे तथा विद्याधरों के साथ-साथ छह खण्डों के समस्त राजागण और देवतागण भी इनके वश में हुए थे। हाथी, घोड़े, रथ, पदाति आदि के शब्दों से उस समय यह सारा जगत् 'शब्दाद्वैत' रूप ही दिख रहा था अर्थात् सब ओर के हाथी आदि के शब्दों से वातावरण मुखरित हो रहा था।

चक्रवर्ती की वह सेना गंगा नदी के किनारे-किनारे अनेक देश, नदी और पर्वतों का उल्लंघन करती हुई क्रम से कैलाशपर्वत के समीप आ पहुँची।

"यहाँ पर्वत पर श्री आदिजिनेंद्र भगवान् ऋषभदेव का समवसरण ठहरा हुआ है।"

ऐसा स्मरण कर भरत महाराज ने सेना को वहीं पास में ठहरा दिया और आप स्वयं जिनेन्द्रदेव की पूजा करने के लिए पर्वत पर चढ़

गये। जैसे सौधर्म इन्द्र के पीछे-पीछे सभी इन्द्र और देवगण चल पड़ते हैं, वैसे ही चक्रवर्ती के पीछे-पीछे अनेक मुकुटबद्ध राजागण पर्वत पर चढ़ने लगे। इस कैलाशपर्वत की शोभा को देखते हुए ये सभी लोग मन में भगवान् ऋषभदेव का ध्यान करते हुए चल रहे थे।

झरनों के कल-कल शब्दों से यह पर्वत मानों यात्रियों को बुला ही रहा है और कह रहा है कि—

"हे भव्यों! समीप आकर तीनों जगत् के गुरु भगवान् ऋषभदेव के चरणों की सेवा करो।"

पुष्पलताओं की शाखाओं से पुष्प वर्षा हो रही थी और देव दुंदुभि के शब्दों से असमय में बादल की गर्जना समझकर मयूर नाच रहे थे। इन सब शोभाओं को देखते हुए भरत महाराज धर्मबुद्धि से पर्वत पर चढ़ रहे थे अतः उन्हें किंचित् भी थकान या खेद नहीं हो रहा था। इस पर्वत पर देव कारीगरों ने स्वर्ग के समान ही मणिमयी सीढ़ियाँ बना दी थीं जिन पर से चढ़ते हुए चक्रवर्ती भरत कुछ ही देर में पर्वत के ऊपर की भूमि पर पहुँच गये। वहाँ उन्होंने जातविरोधी पशु-पक्षियों को एक साथ क्रीड़ा करते हुए देखा, कहीं पर शेरनी, हिरण के बच्चों को दूध पिला रही थी, कहीं पर गाय शेर के बच्चे को अपने बछड़े के साथ प्यार करते हुए चाट रही थी। कहीं पर अजगर के बच्चों के साथ खरगोश क्रीड़ा कर रहे थे तो कहीं पर मयूर के साथ-साथ काले-काले नाग नाच रहे थे।

"यह सब जगद्गुरु भगवान् ऋषभदेव का ही अतिशय है।"

ऐसा सोचते हुए भरत महाराज बहुत ही प्रसन्न हो रहे थे। साथ में चलते हुए पुरोहित जी महाराज को सभी कौतुक की वस्तुएँ दिखाते हुए प्रमुदित कर रहे थे। तभी राजाओं के स्वामी भरत पैर की गांठों तक ऊँचे

फैले हुए फूलों के संमर्द कोमल ऐसे मार्ग के द्वारा शेष बचे हुए उस पर्वत पर चढ़कर समवसरण के निकट पहुँच गये। तभी पुरोहित ने कहा—

"हे देव! शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल शरीर वाला यह कैलाश पर्वत शुद्धात्मा की तरह आपका कल्याण करने वाला हो और यह भगवान् का समवसरण आपको आध्यात्मिक सुख-संपत्ति प्रदान करे। हे देव! इस समवसरण में सभी सुर-असुर आकर दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं इसलिए विद्वानों में श्रेष्ठ गणधर आदि मुनिनाथों ने इसका 'समवसरण' ऐसा सार्थक नाम कहा है।

इसके पश्चात् भरत महाराज समवसरण में प्रवेश करते हुए सर्वप्रथम इन्द्र धनुष की शोभा को प्रगट करने वाले ऐसे 'धूलिसाल' कोट के समीप पहुँचे पुनः इस धूलिसाल को उल्लंघन कर मानस्तंभों में विराजमान जिनबिंबों की पूजा की। इसमें सुवर्ण के खम्भों के अग्रभाग पर रत्नों के तोरण लगे हुए थे। मानस्तंभ के चारों ओर बावड़ियाँ थीं, जिनमें भगवान् की वाणी के समान स्वच्छ और शीतल जल भरा हुआ था। इन बावड़ियों को देखकर भरत ने धूलिसाल की परिधि से भीतर चारों ओर से गलियों के बीच-बीच में देवों के निवास करने योग्य पृथ्वी को देखा। कुछ और आगे चलकर जल से भरी हुई 'परिखा' देखी, यह स्वच्छ, गंभीर और गहरी थी। इसके बाद फूलों की लताओं से व्याप्त ऐसा 'लतावन' देखा। वहाँ से आगे बढ़कर पहला 'कोट' देखा, यह निषध पर्वत के किनारों की स्पर्धा करता हुआ रत्नों की दीप्ति से शोभ रहा था। देवरूप द्वारपाल इसकी रक्षा कर रहे थे और गोपुर द्वार के समीप आठ मंगलद्रव्य रखे हुए थे। इसके भीतर प्रवेश करते हुए भरत इन्द्राणियों के नृत्य करने योग्य दोनों ओर बनी हुई दो 'नाट्यशालाओं' को देखकर

परम-प्रीति को प्राप्त हुए।

वहाँ से कुछ आगे बढ़कर दोनों ओर बगल में रखे हुए ऐसे दो 'धूपघट' देखे। इन धूपघटों में सतत् अग्नि जलती रहती थी और देवों द्वारा खेये गये सुगन्धित धूप से धुआँ निकलता हुआ सर्वत्र सुरभि फैला रहा था। इसके बाद दूसरी कक्षा में वनभूमि देखी, इस वन में चार दिशाओं में क्रम से अशोक, सप्तपर्ण, चंपक और आम्र के वृक्ष फले-फूले दिख रहे थे। इस वन में प्रत्येक वन के मध्य अशोक आदि एक-एक मुख्य वृक्ष थे जिनमें 'जिन प्रतिमाएँ' विराजमान थीं। भरत ने इन 'चैत्यवृक्षों' की पूजा की। इन वनों में किन्नर जाति की देवियाँ भगवान् के गुणों का गान कर रही थीं। इसके आगे बढ़ते ही उन चक्रवर्ती भरत ने 'वनवेदी' देखी जो कि मणियों से निर्मित थी।

इस 'वनवेदी' का उल्लंघन कर आगे बढ़ते हुए भरत ने 'ध्वजभूमि' देखी। इस ध्वजभूमि में जिनराज की वे ध्वजाएँ सिंह, वस्त्र, कमल, मयूर, हाथी, गरुड़, माला, बैल, हंस और चक्र इन चिन्हों के भेद से दश प्रकार की थीं। ये ध्वजाएँ प्रत्येक दिशा में एक-एक प्रकार की १०८-१०८ स्थित थीं। उन सबकी पूजा करते हुए भरत महाराज उस भूमि से आगे बढ़े।

आगे चलते हुए उन्होंने चार गोपुर द्वारों सहित, चाँदी से निर्मित दूसरा 'कोट' देखा। उसे उल्लंघन कर उसके दोनों तरफ दो नाट्यशालाएँ देखीं। वहाँ देवांगनाओं का नृत्य देखकर और आगे धूपघट से निकलती हुई सुगन्धि ग्रहण कर भरत महाराज बहुत ही संतुष्ट हुए। आगे चलते हुए उन्होंने उसी कक्षा के मध्य में माला, वस्त्र, आभूषण आदि अभीष्ट फल देने वाले कल्पवृक्षों से युक्त 'कल्पवृक्षभूमि' देखी। इसी वन भूमि में

सिद्धों की प्रतिमाओं से अधिष्ठित और इन्द्रों द्वारा पूजित 'सिद्धार्थ-वृक्षों' की प्रदक्षिणा दी, प्रणाम किया और पुनः उनकी पूजा की। इसके चार गोपुर द्वारों सहित 'वनवेदिका' को उल्लंघन कर आगे बढ़े।

आगे अनेक महलों से भरी हुई पृथ्वी और स्तूप देखते हुए भरत महाराज हर्ष से रोमांचित हो उठे। वहाँ देवों के रहने के लिए तीन खंड, चार खंड, पाँच खंड आदि वाले अनेक प्रकार के सुन्दर-सुन्दर महल बने हुए थे। रत्नमयी स्तूपों में चारों ओर जिनेन्द्र देव की प्रतिमाएँ विराजमान थीं और रत्नों के तोरण लगे हुए थे। उन स्तूपों की पूजा करते हुए और उन्हीं की चर्चा करते हुए भरत महाराज आश्चर्यमना होकर क्रम-क्रम से उस कक्षा को उल्लंघन कर आगे बढ़े।

वहाँ उन्होंने 'स्फटिकमणि' से बना हुआ तीसरा 'कोट' देखा। वहाँ महाद्वारपाल के रूप में खड़े हुए कल्पवासी देवों से आदर सहित आज्ञा लेकर भरत महाराज ने भगवान् की सभा में प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने चारों ओर से एक 'श्रीमंडप' देखा, जो एक योजन लम्बा, चौड़ा और गोल था तथा अपने भीतर समस्त जगत् को स्थान देने वाला था। इस मंडप में भगवान् को चारों तरफ से घेर कर क्रम से बाहर सभा बनी हुई थीं। जिनमें क्रम से—१. प्रथम कोठे में मुनिगण २. कल्पवासिनी देवियाँ ३. आर्यिकायें और रानी आदि स्त्रियाँ ४. ज्योतिषी देवियाँ ५. व्यंतर देवियाँ ६. भवनवासिनी देवियाँ ७. भवनवासी देव ८. व्यंतर देव ९. ज्योतिषी देव १० कल्पवासी देव ११. राजा आदि मनुष्य और १२. सिंह, मृग आदि पशु, ये सब अपने-अपने कोठे में बैठे हुए भगवान् की दिव्यध्वनि की प्रतीक्षा कर रहे थे। इन सभाओं को देखते हुए भरत महाराज ने तीन कटनीदार गंधकुटी के अग्रभाग पर भगवान् को विराजमान देखा।

प्रथम कटनी का आश्रय लेकर उनकी तीन प्रदक्षिणा दी। इस प्रथम कटनी पर चारों दिशाओं में यक्षों के इन्द्रों ने एक-एक 'धर्मचक्र' अपने मस्तक पर धारण कर रखे थे। भरत महाराज ने इन धर्मचक्रों की पूजा की पुनः दूसरी कटनी पर चक्र, हाथी, बैल, कमल, सिंह, माला, वस्त्र और गरुड़ इन आठ चिन्हों से चिन्हित महाध्वजाओं की पूजा की पुनः तीसरी कटनी पर दिव्य सिंहासन पर विराजमान भगवान् ऋषभदेव को देखकर हर्ष से विभोर हो अपने दोनों घुटने जमीन पर टेककर श्री भगवान् को नमस्कार किया। तदनंतर मोक्षफल को प्राप्त करने की इच्छा से चक्रवर्ती ने विधिपूर्वक जल, चंदन, अक्षत, पुष्पमाला, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से भगवान की पूजा की।

पूजा की विधि समाप्त कर चुकने के बाद भरतेश्वर ने भगवान् को पुनः-पुनः प्रणाम कर अच्छे-अच्छे स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति करना प्रारंभ किया—

"हे भगवन् ! आप परमात्मा हैं, अनंत गुणों के धारक हैं और मैं शक्ति से हीन हूँ, फिर भी बहुत बड़ी भक्ति से जबरदस्ती प्रेरित होकर ही मैं आपकी स्तुति कर रहा हूँ। हे भगवन्! आपके प्रति की गई थोड़ी-सी भक्ति भी बहुत भारी फल देने में समर्थ है सो ठीक ही है। हे नाथ! आपको केवलज्ञान नाम की दिव्य ज्ञानज्योति प्रगट हो गई है, जिससे आप समस्त चर-अचर जगत् को एक समय में देख रहे हैं। हे प्रभो! आपके आसन की प्रथम परिधि धर्मचक्रों से अलंकृत है, दूसरी परिधि आठों दिशाओं में फहराती हुई बड़ी-बड़ी ध्वजाओं से शोभित है। यद्यपि आपके श्रीमंडप की रचना एक ही योजन (चार कोस) लम्बी-चौड़ी है तथापि वह तीनों जगत् के जनसमूह को निरंतर प्रवेश कराते रहने में

समर्थ है। हे देवाधिदेव! यह धूलीसाल की परिधि, ये मानस्तंभ, सरोवर, स्वच्छ जल से भरी हुई परिखा लतावनों का समूह, ऊँचे-ऊँचे चार गोपुर द्वारों से सुशोभित तीन कोट, मंगल द्रव्यों का समूह, निधियाँ, तोरण, दो-दो नाट्यशालाएँ, दो-दो सुन्दर धूपघट, चैत्यवृक्षों से सुशोभित वन पंक्तियों की परिधि, दो वन-वेदी, ऊँची-ऊँची ध्वजाओं से भरी हुई पृथ्वी, कल्पवृक्षों के वन का विस्तार, स्तूप और मकानों की पंक्ति, इस प्रकार मनुष्य, देव और धरणेंद्र को पवित्र करने वाली आपकी यह सभा भूमि (समवसरण) ऐसी जान पड़ती है, मानो तीनों जगत् की अच्छी-अच्छी वस्तुओं का समूह ही एक जगह इकट्ठा किया गया हो। हे देव! यह आपका उत्कृष्ट बाह्य वैभव को प्रगट कर रहा है।

हे नाथ! आज आपकी स्तुति करने से मेरे वचन पवित्र हो गये हैं, आपका स्मरण करने से मेरा मन पवित्र हो गया है, आपको नमस्कार करने से मेरा शरीर पवित्र हो गया है और आपके दर्शन करने से मैं धन्य हो गया हूँ। हे देव! स्वच्छ और पुण्यरूप जल से खूब भरे हुए आपके तीर्थरूपी सरोवर में मैंने चिरकाल से अच्छी तरह स्नान किया है। इसलिए मैं आज पवित्र तथा सुख से संतुष्ट हो रहा हूँ। हे प्रभो! एक ओर तो मुझे दूसरे शासन से रहित यह चक्रवर्ती की विभूति प्राप्त हुई है और एक ओर समस्त लोक को पवित्र करने वाली आपके चरणों की सेवा प्राप्त हुई है। हे भगवन् ! दिशा-भ्रम होने से विमूढ़ होकर अथवा दिग्विजय में अनेक दिशाओं में भ्रमण करने के लिए मुग्ध होकर मैंने जो कुछ भी पाप उपार्जन किया था, वह आपके दर्शनमात्र से उस प्रकार विलीन हो गया है कि जिस प्रकार सूर्य के दर्शन से रात्रि का अंधकार भाग जाता है।

इत्यादि प्रकार से स्तोत्र पाठ पढ़कर भरत महाराज ने आनन्द-अश्रुओं से नीचे की जमीन को सिंचित करते हुए भगवान् को नमस्कार किया पुनः मुनियों के कोठे में विराजमान श्रीवृषभसेन गणधर आदि मुनियों को नमस्कार कर आर्यिकाओं के कोठे में बैठी हुई ब्राह्मी और प्रमुख सर्व आर्यिकाओं को नमस्कार किया। अनंतर मनुष्यों के कोठे में बैठकर भगवान् का दिव्य उपदेश श्रवण किया। ये चक्रवर्ती भगवान् ऋषभदेव के समवसरण के मुख्य श्रोता थे अतः तीन काल के अतिरिक्त असमय में भी इनके वहाँ पहुँचने से भगवान् की दिव्यध्वनि खिर जाती थी। यद्यपि भगवान के रागभाव और इच्छा का सर्वथा अभाव है, फिर भी यह चक्रवर्ती के पुण्य का ही नियोग है। इसके बाद भरत महाराज अपने पूज्य पिता ऋषभदेव को पुनः-पुनः नमस्कार कर उनसे पूछकर अपने निवास स्थान अयोध्या आने के लिए वहाँ से निकल पड़े।

(१८)

चक्रवर्ती भरत सेना के साथ-साथ प्रस्थान करते हुए कितने ही मुकाम के बाद अयोध्या नगरी के समीप आ गये। उस समय अयोध्या के निवासी लोगों ने और सामंत आदि ने चक्रवर्ती के स्वागत में नगरी को खूब सजाया था, चारों ओर मकानों के अग्रभाग तोरण और ध्वजाओं से सुशोभित हो रहे थे। गलियों में भी फूलमाल, तोरण और ध्वजाएँ लगाई गई थीं। अयोध्या की सारी पृथ्वी बुहार कर उस पर गीले चन्दन का छिड़काव किया गया था, भरत महाराज नगरी के समीप ही पूरी विशाल सेना को ठहराकर शिविर में ठहर गये थे।

अनन्तर अगले दिन जब वे नगर में प्रवेश के लिए चले, तब आगे-आगे चलने वाला उनका चक्ररत्न अयोध्या के बाहर ही गोपुर द्वार

पर रुक गया। तब चक्ररत्न की रक्षा करने वाले कितने ही देव चक्ररत्न को एक जगह रुका हुआ देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए। कितने ही देव क्रुद्ध होकर कहने लगे—

"क्या है? क्या है?"

और तलवार लेकर इधर-उधर घूमने लगे। चक्र के स्वरूप को जानने वाले कितने ही लोग सोचने लगे—

"अरे! क्या अब भी चक्रवर्ती के लिए जीतने योग्य कोई शेष रहा है?"

सेनापति आदि प्रमुख लोगों ने निकट जाकर चक्रवर्ती से कहा— "हे देव! जो चक्ररत्न आज तक कहीं पर भी नहीं रुका था, वह आज आपके नगर के द्वार पर ही रुक गया है, अन्दर नहीं प्रवेश कर रहा है। क्या कारण है? सो आप विचार कीजिए।"

इतना सुनकर चक्रवर्ती भी आश्चर्य से विचार करने लगे—

"अहो! सारे छहखण्ड को जीतने में मेरी आज्ञा आज तक कहीं भी नहीं रुकी। ऐसे मेरे रहते हुए भी जिसकी गति कहीं पर भी नहीं रुकी थी, ऐसा यह चक्ररत्न आज यहाँ क्यों रुक गया?.......यह चक्र भला क्रूरगृह के समान वक्र क्यों हो गया? क्या कारण है?"

ऐसा सोचकर चक्रवर्ती ने अपने निमित्तज्ञानी पुरोहित से पूछा— "हे विप्रवर! जिसने समस्त दिशाओं पर आक्रमण कर शत्रुओं को वश में कर लिया है और जो सूर्य की किरणों का भी तिरस्कार करने वाला है, ऐसा यह चक्ररत्न मेरे ही नगर के द्वार में क्यों नहीं प्रवेश कर रहा है? अहो! जो पूर्व-दक्षिण और पश्चिम समुद्र में कहीं नहीं रुका, जो विजयार्ध पर्वत की विशाल दोनों गुफाओं में नहीं रुका, वही चक्र आज मेरे घर के आंगन में क्यों रुक गया? अतः मेरे साथ विरोध रखने वाला कोई

विजिगीषु होना ही चाहिए। क्या मेरे राज्य में अभी भी कोई असाध्य शत्रु मौजूद है? अथवा क्या कोई दुष्ट हृदय वाला मेरे गोत्र का ही कोई पुरुष मेरी वृद्धि न सहन कर मुझसे द्वेष कर रहा है? शत्रु अत्यन्त छोटा भी हो, तो भी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, उसका शीघ्र ही उच्छेद करना उचित है क्योंकि आँख में पड़ी धूलि की कणिका के समान उपेक्षा किया, हुआ छोटा शत्रु भी पीड़ा देने वाला हो जाता है। यह चक्ररत्न उत्तम देवरूप है और रत्नों में मुख्य रत्न है, इसकी गति का स्खलन बिना किसी कारण के नहीं हो सकता। इसलिए हे बुद्धिमान् पुरोहित! आप दिव्य नेत्र के धारी हैं, इस चक्र के रुकने का क्या कारण है? सो आप विचार कर कहिए।''

इतना कहकर चक्रवर्ती के चुप हो जाने पर पुरोहित ने एक क्षण विचार किया पुनः कहना प्रारंभ किया—

''हे महाराज! हम लोग तो केवल शास्त्र के पण्डित हैं, कार्य करने की युक्तियों से विज्ञ नहीं हैं किन्तु राजनीति में शास्त्र के प्रयोग को जानने वाला भला आपके समान दूसरा कौन है? आप राजाओं में 'प्रथम राजा' हैं और राजाओं में ऋषि के समान श्रेष्ठ होने से 'राजर्षि' हैं। यह राजविद्या केवल आपसे ही उत्पन्न हुई है। इससे उसके जानने वाले हम लोग उसका प्रयोग करने में क्यों न लज्जित हों? तथापि आपके द्वारा किया हुआ हमारा असाधारण सत्कार लोक में हमारे गौरव को बढ़ा रहा है, इसलिए मैं कुछ कहने का साहस कर रहा हूँ।

हे देव! हम लोगों ने निमित्तज्ञानियों का ऐसा उपदेश सुना है कि जब तक दिग्विजय करने में कुछ भी शेष रहता है, तब तक चक्ररत्न विश्राम नहीं लेता है। हे प्रभो! आपके इस वसुन्धरा पर शासन करते हुए

न तो कोई आपका शत्रु है और न मित्र, प्रत्युत् सभी आपके सेवक ही हैं। यद्यपि आपने समस्त शत्रु पक्ष को जीतकर सभी राजाओं को नम्रीभूत कर लिया है तथापि आपके भाई आपके प्रति नम्र नहीं हैं। उन्होंने आपको नमस्कार नहीं किया है। वे आपके विरुद्ध हो रहे हैं फिर भी सजातीय होने के कारण वे आपके द्वारा विघात करने योग्य नहीं हैं। इन सौ भाइयों में भी 'बाहुबली' मुख्य हैं।

''हम लोग भगवान् आदिनाथ को छोड़कर किसी को प्रणाम नहीं करेंगे।''

ऐसा ये सभी निश्चय कर बैठे हैं। इसलिए हे चक्रधर! आपको इस विषय में शीघ्र ही प्रतीकार करना चाहिए क्योंकि बुद्धिमान पुरुष, ऋण, घाव, अग्नि और शत्रु इनके बाकी रहे हुए थोड़े ही अंश की भी उपेक्षा नहीं करते हैं। हे राजन्! यह पृथ्वी केवल आपके द्वारा ही राजन्वती है। हे देव! वे सब आपके भाई ईर्ष्या छोड़कर आपके अनुकूल रहें। यहाँ आकर आपको प्रणाम करें या जगत् के रक्षक भगवान् ऋषभदेव की शरण को प्राप्त हों, इसके सिवाय उनकी तीसरी गति नहीं है।''

इतना सुनते ही भरत महाराज क्रोध के आवेश में आकर कहने लगे—

''हे पुरोहित! क्या कहा? क्या कहा! वे दुष्ट भाई मुझे प्रणाम नहीं करना चाहते हैं? अच्छा, तुम मेरे दण्डरत्न के द्वारा उनके टुकड़े होते हुए देखो। उनका यह कार्य न तो कभी देखा जा सकता है और न सुना ही जा सकता है। हमने समस्त भरत क्षेत्र को जीत लिया है–ऐसा कहाँ तो मैं? और मेरे उपभोग करने योग्य क्षेत्र में ही रहने वाले कहाँ वे लोग? तथापि मेरी आज्ञानुसार चलने पर उनका भी विभाग (हिस्सा) हो सकता है।''

क्रोध के आवेश में कहते हुए चक्रवर्ती से पुनः पुरोहित ने निवेदन किया—

"हे देव! 'मैंने जीतने योग्य सबको जीत लिया है', ऐसी घोषणा करते हुए भी आप क्रोध के द्वारा क्यों जीते गये? जितेन्द्रिय पुरुषों को तो क्रोध का वेग पहले ही जीतना चाहिए। वे आपके भाई बालक हैं इसलिए अपने बाल-स्वभाव से कुमार्ग में इच्छानुसार क्रीड़ा कर सकते हैं परन्तु जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छहों अंतरंग शत्रुओं को जीत लिया है ऐसे आप में यह क्रोधरूपी अंधकार ठहरने योग्य नहीं है। हे देव! महापुरुष तो केवल क्षमा के द्वारा ही इस पृथ्वी को जीत लेते हैं। इसलिए आप शान्ति से अपने भाइयों को वश में करने का उपाय सोचिए। पहले आप अपने निन्यानवें भाइयों के पास दूत भेजिए पुनः उनकी प्रतिक्रिया देखकर बाहुबली के बारे में सोचिए। आपको लोकोपवाद से डरते हुए यही कार्य करना चाहिए क्योंकि लोक में यश ही स्थिर रहने वाला है, संपत्तियाँ तो नष्ट होने वाली हैं।"

इतना सुनकर चक्रवर्ती ने क्रोध को दूर कर एकदम शांतवृत्ति धारण कर ली और कार्य करने में कुशल दूतों को बुलाकर उन्हें समझाकर पत्र और भेंट साथ में देकर अपने छोटे अट्ठानवें भाइयों के पास भेज दिया। उन दूतों ने भरत महाराज की आज्ञानुसार वहाँ पहुँचकर उन भाइयों को प्रणाम कर उनके द्वारा दिये गये योग्य आसन पर बैठकर निवेदन करना आरंभ किया—

"आप सभी भाई चलिए और अपने बड़े भाई की सेवा करिए, उनकी सेवा कल्पवृक्ष की सेवा के समान आपके सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली होगी। वे आपके बड़े भाई पिता तुल्य हैं, चक्रवर्ती हैं और सब तरह से आप लोगों के द्वारा पूज्य हैं। जिस प्रकार दूर रहने वाले तारागणों से चन्द्रमा का बिम्ब सुशोभित नहीं होता है उसी प्रकार दूर रहने

वाले आप लोगों से उनका ऐश्वर्य सुशोभित नहीं होता है। आप लोगों के बिना उनका यह राज्य उनके लिए संतोष देने वाला नहीं हो सकता है क्योंकि जिसका उपभोग भाइयों के साथ-साथ किया जाता है वही साम्राज्य सज्जन पुरुषों को आनन्द देने वाला होता है। हे राजन् ! यह मौखिक संदेश हमने आपको सुनाया, बाकी सब आप पत्र से विदित कीजिए।"

इतना सुनकर उन भाइयों ने रत्नपिटारे से पत्र निकालकर वाचन कराकर समाचार विदित किये। अनन्तर उस समय की सभा में सभी भाई आपस में मिलकर विचार करने लगे।

"जो आदिराजा ने कहलाया है वह सच है और हम लोगों को स्वीकार है क्योंकि पिता के न होने पर बड़ा भाई ही छोटे भाई द्वारा पूज्य होता है परन्तु समस्त संसार को जानने- देखने वाले हमारे पिता प्रत्यक्ष विराजमान हैं वे ही हमको प्रमाण हैं, यह हमारा ऐश्वर्य उन्हीं का दिया है। इसलिए हम लोग इस विषय में पिताजी के चरण-कमलों की आज्ञा के अधीन हैं, स्वतंत्र नहीं हैं। इस संसार में हमें भरतेश्वर से न तो कुछ लेना है और न कुछ देना है तथा चक्रवर्ती ने जो हमें हिस्सा देने के लिए बुलाया है उससे हम लोग बहुत ही संतुष्ट हुए हैं और गले तक तृप्त हो गये हैं अतःअब हम लोग दूतों को ससम्मान विदा कर दें और पूज्य पिता के पास ही चलकर कार्य का निर्धारण करें।"

इत्यादि रूप से आपस में सलाहकर उन भाइयों ने दूतों का सम्मान सहित सत्कार कर तथा भरत के लिए उपहार देकर साथ में पत्र भी देकर उन सभी दूतों को शीघ्र ही विदा कर दिया।

(१९)

ये सभी भाई मिलकर कैलाश शिखर पर विराजमान पूज्य भगवान् ऋषभदेव के समीप पहुँचे। समवसरण में पहुँचकर इन सभी ने भगवान् को नमस्कार किया, विधिवत् पूजा की और पुनः कहने लगे—

'हे देवाधिदेव! हम लोगों ने आपसे ही जन्म पाया है, आपसे ही यह उत्कृष्ट विभूति पायी है और अब भी आपकी प्रसन्नता की इच्छा रखते हैं, हम लोग आपको छोड़कर और किसी की उपासना नहीं करना चाहते है। इस संसार में लोग 'यह पिताजी का प्रसाद है' ऐसा केवल कहते ही हैं किन्तु आप के प्रसाद से हमें उत्तम सम्पत्ति प्राप्त हुई है, ऐसे हम सभी लोग इस वाक्य के रस का अनुभव भी कर चुके हैं। हम लोग आपके किंकर हैं सो चाहे जो हो अब हम लोग अन्य किसी के दास बनना नहीं चाहेंगे। ऐसा होने पर भी भरत ने हम लोगों को प्रणाम करने के लिए बुलाया है। उसमें उनका मद कारण है या मात्सर्य, सो हम लोग कुछ नहीं जानते। इतना निश्चित है कि हम आप से भिन्न देव और अन्य मनुष्यों को अब नमस्कार नही करेंगे। इसलिए हे प्रभो! जिसमें अन्य किसी को प्रणाम नहीं करना पड़ता, ऐसी दैगम्बरी 'वीरदीक्षा' को धारण करने के लिए हम सभी आपके समीप आये हैं, अतः हे नाथ! जो मार्ग उभय भवों में हित करने वाला हो वही हमें कहिए।''

तब भगवान् ऋषभदेव इन राजकुमारों को अविनाशी मोक्ष मार्ग में स्थित करते हुए इस प्रकार उपदेश देने लगे—

''हे पुत्रों! महा अभिमानी और उत्तम शरीर को धारण करने वाले तुम लोग दूसरों के सेवक कैसे हो सकते हो? इस विनाशी राज से क्या

हो सकता है? इस चंचल जीवन से क्या हो सकता है? हे वत्सों! यह राज्य, यह यौवन और यह सेना आदि धन सब क्षणभंगुर है तथा तुम लोगों ने चिरकाल तक इन विषयभोगों को भोगा है पर तृप्त नहीं हुए हो। जिसमें शत्रु मित्र हो जाते हैं, पुत्र और भाई वगैरह शत्रु हो जाते हैं तथा सबके भोगने योग्य पृथ्वी ही स्त्री हो जाती है ऐसे राज्य को धिक्कार हो। जब तक पुण्य का उदय है तब तक राजाओं में श्रेष्ठ भरत इस भरतक्षेत्र की पृथ्वी का पालन करें। यह नश्वर राज्य भरत के द्वारा भी छोड़ा जायेगा, इसलिए इस अस्थिर राज्य के लिए तुम लोग क्यों चिंता करते हो? तुम लोग धर्मरूपी महावृक्ष के उस दयारूपी फूल को धारण करो जो कभी भी म्लान नहीं होता और जिस पर मुक्ति रूपी महाफल लगता है। जो दूसरों की आराधना की दीनता से रहित है बल्कि दूसरे ही पुरुष जिसकी आराधना करते हैं, ऐसा तपश्चरण ही महाअभिमान धारण करने वाले तुम लोगों के मान की रक्षा करने वाला है। जिसमें दीक्षा ही रक्षा करने वाली है, गुण ही सेवक है और यह दया ही प्राण प्यारी स्त्री है। इस प्रकार जिसमें सब सामग्री प्रशंसनीय है ऐसा यह तपस्वी राज्य ही उत्कृष्ट राज्य है।''

इत्यादि रूप भगवान् का दिव्य उपदेश सुनकर इन सब राजकुमारों ने परमवैराग्य को प्राप्त हुए भगवान के चरण सानिध्य में ही महादीक्षा ग्रहण कर ली और चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेंद्र आदि सभी के द्वारा भी पूज्य हो गये। ये सभी महामुनि जिनकल्प दिगम्बर मुद्रा से विशिष्ट सामायिक चारित्र में स्थित हुए और ज्ञान की विशुद्धि से बढ़ा हुआ तीव्र तपश्चरण करने लगे। आचारांग आदि ग्यारह अंगों को पढ़कर आगे बारहवें अंग के अंतर्गत समस्त श्रुतज्ञान के रहस्य का निश्चय करने वाले इन मुनियों ने

क्रम से चौदह महाविद्याओं के स्थान (चौदह पूर्वों) का भी अध्ययन कर लिया। ये सभी मुनि ग्रीष्मावकाश आदि में आतापन योग आदि करते हुए विशिष्ट धर्मध्यान के अभ्यासी हो गये।

अनेक मासोपवास करने के बाद ये महामुनि केवल शरीर की स्थिति के लिए गोचरीवृत्ति से आहार लेकर आगे के लिए चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान कर तपोवन का आश्रय ले लेते थे। इस प्रकार अनशन आदि बाह्य तप के द्वारा अंतरंग विशुद्धि बढ़ाते हुए ध्यान साधना में तत्पर रहते थे। अतएव इन मुनियों के योग के प्रभाव से अणिमा-महिमा आदि अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो गई थीं क्योंकि नियम से विशुद्ध तप बड़े-बड़े फल देते हैं।

जिसमें तपश्चरण ही संस्कार की हुई अग्नि थी, कर्म ही आहुति देने योग्य—होम, करने योग्य द्रव्य थे, विधि-विधान को जानने वाले ये मुनिगण ही होम करने वाले थे। श्री ऋषभदेव के वचन ही मंत्र थे, भगवान् ऋषभदेव ही यज्ञ के स्वामी थे, दया ही दक्षिणा थी, इच्छित वस्तु की प्राप्ति होना ही फल था और मोक्ष प्राप्त होना ही कार्य की अवधि थी। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव के द्वारा कहे हुए यज्ञ का संकल्प कर इन तपस्वियों ने तपरूपी श्रेष्ठ यज्ञ की प्रवृत्ति चलायी थी। ये दिगम्बर साधु भगवान् आदिनाथ से रत्नत्रय की प्राप्ति कर उनके तीर्थरूपी मानस सरोवर के राजहंस हुए थे। भरत चक्रवर्ती को नमस्कार नहीं करने की इच्छा से ही अभिमानरूपी धन को धारण करने वाले तथा मुक्तिवधू के अभिलाषी, ऋषभदेव के इन अट्ठानवे पुत्रों ने अपने पिता का आश्रय लिया था, ऐसे ये सर्वसाधु जगत् में क्षेम करें।

(२०)

चक्रवर्ती भरत अनेक प्रकार से मन्त्रणा करके एक कुशल दूत बाहुबली के पास भेज देते हैं। दूत वहाँ पहुँचकर सविनय प्रणाम करते हैं। बाहुबली भी उसका सत्कार करके अपने समीप बिठा लेते हैं और कहते हैं—

"अहो! आज चक्रवर्ती ने बहुत दिन बाद हम लोगों का स्मरण किया है।

हे भद्र! समस्त पृथ्वी के स्वामी और बहुत लोगों की चिंता करने वाले ऐसे चक्रवर्ती की कुशल तो है न? जिन्होंने समस्त क्षत्रियों के जीतने का उद्योग आज तक भी समाप्त नहीं किया है, ऐसे राजाधिराज भरतेश्वर की दाहिनी भुजा कुशल है न ? सुना है कि उन्होंने समस्त दिशाएँ वश में कर ली हैं। हे दूत! कहो, अब भी उनको कुछ कार्य बाकी रहा है या नहीं?

"प्रभो! आपके इन वचनरूपी दर्पण में आगे कार्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है।" कहते हुए दूत ने अपनी बात आगे बढ़ाई। "हे नाथ! हम लोग तो दूत हैं, केवल स्वामी की आज्ञा ले जाने वाले हैं। हे आर्य! चक्रवर्ती ने जो प्रिय और उचित आज्ञा दी है उसे आपको बिना तर्क-वितर्क के स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि गुरु के वचन बिना ऊहापोह के स्वीकृत करने योग्य होते हैं, ऐसा शास्त्रों का वाक्य है।

वह भरत इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुआ है, भगवान् का पुत्र है, राजाओं में प्रथम है और फिर वह आपका बड़ा भाई है, पुनः आपके नमस्कार के योग्य क्यों नहीं होगा?"

बाहुबली मुस्करा देते हैं, पुनः दूत को कहने का अवसर देते हैं—

"बारह योजन तक जाने वाले उनके बाण ने मागधदेव को उनके चरणों का किंकर बना दिया है। विजयार्धदेव पराजित होकर उनके विजय की घोषणा करने लगा है। कृतमाल आदि देव उनकी अधीनता प्राप्त कर चुके हैं और उत्तर-दक्षिण दोनों श्रेणियों के विद्याधरों ने भी उन्हें अपना स्वामी बना लिया है और तो क्या, वे म्लेच्छ क्षेत्र निवासी सभी महाभिमानी राजा उनके चरणों में अपना मस्तक झुका रहे हैं। अधिक कहने से क्या? हे आयुष्मन् ! जगन्मान्य महाराज भरत अपने चक्रवर्तित्व को प्रसिद्ध करते हुए कल्याणकारी आशीर्वाद से आपका सन्मान कर आज्ञा कर रहे हैं कि — समस्त द्वीप-समूहों तक फैला हुआ यह राज्य हमारे प्रिय भाई बाहुबली के बिना शोभा नहीं देता है। सम्पत्ति ऐश्वर्य और भोग सामग्री वही है कि जिनका भाई-भाई में विभक्त कर साथ-साथ उपभोग करें।

"तो क्या चक्रवर्ती ने हमें कुछ हिस्सा देने के लिए आमंत्रित किया है?" बाहुबली ने बीच में ही प्रश्न कर दिया। दूत ने बाहुबली का मनोरथ भाँपकर वाक्पटुता से स्वामी का आशय स्पष्ट करते हुए कहा — "देव! जिन्हें समस्त मनुष्य, देव, विद्याधर और मुकुटबद्ध राजागण नमस्कार कर रहे हैं किन्तु आपके नमस्कार करने से विमुख रहने पर क्या उनका चक्रवर्तीपना सुशोभित हो सकता है? प्रणाम नहीं करने वाला शत्रु स्वामी के मन को उतना अधिक दु:खी नहीं करता है जितना कि प्रणाम से विमुख अपना भाई दु:खी करता है। जिसकी आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं जाती, ऐसे उन भरत सम्राट् की आज्ञा को जो कोई भी उल्लंघन करते हैं, उन शत्रुओं पर शासन करने वाला उनका वह चक्ररत्न है जिस पर स्वयं किसी का शासन नहीं चल सकता है।" अतः हे दीर्घायु कुमार! आप शीघ्र ही

चलकर चक्रवर्ती का मनोरथ पूर्ण कीजिए। आप दोनों भाइयों के मिलाप से यह समस्त संसार मिलकर रहेगा।"

सारी बातों को सुनकर मंद-मंद हँसते हुए बाहुबली गंभीर वचनों द्वारा दूत को उत्तर देते हैं —

"हे दूत! तू अपने स्वामी के प्रयोजन को सिद्ध करने में कितना चतुर है तभी तो भरत ने तुझे मेरे पास भेजा है। पहले तो तूने साम (शांति) का प्रयोग दिखलाया, पुनः तूने दाम और दण्ड को भी सूचित कर दिया है। अरे! तुझे यह मालूम नहीं कि दण्ड भी प्रेम-पुचकार कर पकड़ने योग्य हाथी पर ही चल सकता है न कि सिंह पर। हे दूत! हम लोग शांति से वश में नहीं किये जा सकते, ऐसा निश्चय करने पर भी तू हमारे साथ में जो अहंकार का प्रयोग कर रहा है इससे स्पष्ट हो जाता है कि तू महामूर्ख है।"

दूत बाहुबली की तर्जना से सहम जाता है और हाथ जोड़कर विनम्र भाव से निवेदन करता है —

"स्वामिन् ! मेरे वचनों से आप अन्यथा अर्थ न ग्रहण करें। भरत महाराज आपके अग्रज हैं अतः पिता के समान पूज्य हैं। इस सौहार्द से आप उनसे मिलिए।"

बाहुबली मुख बिगाड़कर उत्तर देते हैं —

"दूत! जब तक कुटुम्बियों में परस्पर मेल रहता है तब तक प्रेम और विनय दोनों रहते हैं और ज्यों ही उनमें परस्पर विरोध हुआ त्यों ही दोनों समाप्त हो जाते हैं। बड़ा भाई नमस्कार करने योग्य है यह बात अन्य समय में अच्छी हो सकती है किन्तु जिसने मस्तक पर तलवार रख छोड़ी हो उसको प्रणाम करना यह कौन-सी रीति है?

दूसरे के अहंकार के अनुसार प्रवृत्ति करना हमारे लिए असंभव है। आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ने "राजा" यह शब्द मेरे और भरत दोनों के लिए दिया परन्तु आज भरत "राजराज" हो गया है सो यह कपोल पर उठे हुए फोड़े के समान व्यर्थ है अथवा रत्नों को पाकर वह लोभी भरत इच्छानुसार भले ही "राजराज" बना रहे, हमें क्या करना? "हम अपने धर्मराज्य में स्थिर रहकर "राजा" ही बने रहेंगे।"

दूत मन में सोचता है—"ये बाहुबली भरत के चक्रवर्तीपने को स्वीकार नहीं कर रहे हैं। स्वामी की आज्ञानुसार मैंने सब कुछ प्रयोग करके देख लिया है।" पुनरपि वह बोलता है—

"देव! पुनः आप कब तक चलेंगे? हम भरत महाराज से क्या निवेदन करें?

बाहुबली उसकी धृष्टता देखकर विस्मय करते हैं। पुनः दूत की कुशलता समझ कर कहते हैं—

"अरे दूत! वह भरत बालकों के समान छल से हम लोगों को बुलाकर और प्रणाम कराकर कुछ पृथ्वी देना चाहता है किन्तु उसका दिया हुआ पृथ्वी का टुकड़ा मेरे लिए खली के समान तुच्छ है। तेजस्वी मनुष्य अपनी भुजा रूपी वृक्ष के फल से ही संतुष्ट रहते हैं, चाहें वो थोड़ा हो या बहुत। जब सर्व भोगोपभोग सामग्री को छोड़ने वाले मुनि भी अभिमान आत्मगौरव से सहित होते हैं तब भला राज्य भोगने वाला ऐसा कौन पुरुष है जो स्वाभिमान को छोड़ देगा? अतः उस भरत के आधीन होकर रहना मेरे लिए अंसभव है।"

बाहुबली का उत्तर सुनकर दूत किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। कुछ क्षणों के पश्चात् अपने स्वामी की शक्ति और वैभव का स्मरण करते हुए

धृष्टता के साथ बोल उठता है—

"हे देव! आप अपने अग्रज के वैभव से ईर्ष्यालु हो रहे हैं, ऐसा दिख रहा है सो आपका यह अहंकार टिकने वाला नहीं है।"

बाहुबली दूत के अति साहस को देखकर भी अपनी गंभीरता को न छोड़ते हुए कहते हैं—

"अरे दूत! तेरा स्वामी समस्त राजाओं द्वारा रत्नों की राशि से तोला गया है, ऐसा यह भरत एक प्रकार का "तुला पुरुष" है। भला ऐसा ऐश्वर्य किस काम का? अवश्य ही वह भरत अपने पूज्य पिता श्री भगवान् ऋषभदेव के द्वारा दी गई हमारी पृथ्वी को छीनना चाहता है। सो इस लोभ का तिरस्कार करने के सिवाय और कुछ उपाय नहीं है।"

इसका मतलब यह है कि आप सन्धि नहीं चाहते हैं।

"तुम ठीक समझे हो दूत" बाहुबली ने कहा—"अब तो युद्ध की कसौटी पर ही मेरा और भरत का पराक्रम प्रगट होना चाहिए। अतः हे दूत! अब तू जाकर भरत से मेरा एक ही संदेश कह दे कि बाहुबली की सबल भुजाएँ रणभूमि में ही चक्रवर्ती के चक्ररत्न की परीक्षा करेंगी।"

बाहुबली का उत्तर सुनते ही दूत तत्काल वहाँ से चला जाता है और इधर बाहुबली की सभा में सैकड़ों राजा उत्साह के साथ वीररस से युक्त वार्तालाप करने लगते हैं।

(२१)

भरत महाराज कुछ क्षण के लिए एकांत में बैठे हुए विचार कर रहे हैं। दूत के द्वारा बताये गये बाहुबली के एक-एक शब्दों का स्मरण करके सोच रहे हैं—

"अहो! क्या करना? अनन्तविजय आदि अट्ठानवें प्यारे भाइयों ने पूज्य पिता के चरणों में जाकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली है। भाइयों में एक यही बाहुबली शेष बचा है। यह महाबली है और महाअभिमानी। मुझे नमस्कार करके मेरी अधीनता स्वीकार करने को कथमपि तैयार नहीं है। ओह! यह चक्ररत्न भी इसे नमित किये बिना अयोध्या में प्रवेश नहीं कर रहा है। इसको पराजित किये बगैर मेरा दिग्विजय अधूरा ही है। भाई-भाई का युद्ध कहाँ तक उचित है? इसके सिवाय अन्य कोई उपाय भी नहीं है।"

मंत्रीगण, सेनापति, पुरोहित आदि वरिष्ठ लोग नमस्कार कर निवेदन करते हैं—

"राजाधिराज चक्रेश्वर! प्रस्थान की भेरी बज चुकी है। "विजय" नाम का हाथी बाहर खड़ा हुआ है। स्वामिन् ! मांगलिक क्रिया करके प्रस्थान कीजिए।"

चक्रवर्ती उठ खड़े होते हैं। जय-जयकारों के शब्दों से आकाश मंडल गुंजायमान हो रहा है। चक्रवर्ती की विशाल सेना चली जा रही है पोदनपुर की तरफ, जिसमें हजार आरों वाला चक्ररत्न आगे-आगे चल रहा है।

उधर बाहुबली की सेना पहले से ही रणभूमि में आकर ठहरी हुई है। कहाँ उधर चक्रवर्ती की सेना का विस्तार! और कहाँ इधर बाहुबली की सेना? फिर भी योद्धाओं का हुंकार शब्द, उनका उत्साह, एक-दूसरे की स्पर्धा को करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा है। बाहुबली की भुजाओं का दर्प देखकर भरत के योद्धा भी प्राय: कुछ भयभीत से हो रहे हैं, ऐसे समय में उभयपक्ष के कुछ विवेकी लोग आपस में चर्चा कर रहे हैं—

"अहो! क्या पता इस महायुद्ध में इन भाइयों का क्या होगा? अत: इनका यह युद्ध सेवकों की शांति के लिए नहीं है।"

"ओह बन्धु! इस युद्ध में केवल सैनिकों का ही विनाश होगा। चूँकि ये दोनों चरमशरीरी हैं।"

"हाँ, हाँ! यह युद्ध अनेक प्राणियों के संहार का ही कारण है।"

"देखो भाई! भरत भी साधारण पुरुष तो नहीं हैं। चूँकि जिसकी हजारों देव रक्षा करते हैं, ऐसा चक्ररत्न इसके पास है।"

"बन्धुवर! बाहुबली भी महाप्रतापी हैं। व्यायाम से उसकी भुजाएँ सुदृढ़ हैं, वह भी कम शक्तिशाली नहीं है।"

"बड़े-बड़े मुकुटबद्ध राजागण क्या इस महायुद्ध को रोक नहीं सकते हैं?"

"अरे भाई! यहाँ समीप में भी देवगण होवें, तो वे ही इस युद्ध को रोक देवें तो अच्छा हो, यह तो घोर अनर्थ होने वाला है।"

इधर दोनों सेनाओं के शूरवीर अपने-अपने कटक में अनेक प्रकार के व्यूह आदि बनाने में लगे हुए हैं।

इतने में ही दोनों पक्ष के मंत्रीगण परस्पर में विचार-विमर्श करते हैं—

"अहो! इन दोनों का यह युद्ध क्रूरग्रह के समान हैं अत: शांति के लिए नहीं है। ये दोनों महाप्रतापी चरमशरीरी हैं, इनका तो कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। युद्ध के बहाने दोनों पक्ष के न जाने कितने मनुष्यों का संहार हो जायेगा अत: इस प्राणी-हिंसा के युद्ध को रोककर इन दोनों में ही "धर्मयुद्ध" हो जावे तो अच्छा है क्योंकि ये युद्ध तो अधर्म और अपयश को ही करने वाला दिख रहा है।"

इस प्रकार से विचार-विमर्श करके ये मंत्रीगण भरत महाराज के

पास पहुँचते हैं और निवेदन करते हैं —

"प्रभो! आप दोनों का यह युद्ध अनेक प्राणियों के विघात का कारण न हो अत:आप दोनों ही परस्पर में युद्ध कर हार-जीत निश्चित कर लीजिए, यही हम लोगों की प्रार्थना है।"

"क्यों"

"स्वामिन्! आप दोनों महाबलशाली, महापराक्रमी हैं तथा भाई-भाई और इसी भव से मोक्ष जाने वाले हैं अत: सैनिकों के युद्ध से महान् हिंसा के सिवाय जल्दी कुछ निर्णय होने वाला नहीं है अत: आप दोनों ही धर्मयुद्ध कर प्रजा को शांति प्रदान कीजिए।"

उधर बाहुबली के पास भी मंत्रियों ने यही निवेदन किया। उन्होंने भी यह बात मंजूर कर ली। तब मंत्रियों ने इन दोनों के लिए "दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध" ऐसे तीन युद्ध निर्धारित कर दिये। इन तीनों में जो विजय प्राप्त करेगा वही जयलक्ष्मी का स्वामी होगा, ऐसा निर्णय होते ही मंत्रियों ने दोनों सेनाओं में सूचना कर दी। जो भरत के पक्ष के बड़े-बड़े राजा थे, वे एक तरफ बैठ गये और बाहुबली के पक्ष के राजा लोग एक तरफ बैठ गये। दोनों भाई बीच में आकर स्थित हो गये।

भरत का शरीर सुवर्णवर्ण का है अत: वे निषधपर्वत के समान सुशोभित हो रहे हैं और बाहुबली का शरीर हरित्वर्ण का है अत: वे नील पर्वत के समान सुन्दर दिख रहे हैं। एक चक्रवर्ती हैं तो दूसरे कामदेव हैं, दोनों ही भगवान् ऋषभदेव के पुत्र हैं और दोनों ही समान शक्तिशाली हैं। सर्वप्रथम दृष्टियुद्ध शुरू होता है।

दोनों भाई आपस में एक-दूसरे को निर्निमेष दृष्टि से देख रहे हैं। उस समय ऐसा विदित हो रहा है कि मानों ये दोनों भाई बहुत दिन बाद

आपस में मिले हैं इसलिए एक-दूसरे को अनिमेष दृष्टि से देख रहे हैं। कुछ देर बाद भरत की आँखों की पलक बंद हो जाती है, तब बाहुबली के पक्ष के राजा लोग "बाहुबली" की जीत को देखकर हर्षित हो जय-जयकार बोलने लगते हैं। भरत के शरीर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष (२००० हाथ) और बाहुबली के शरीर की ऊँचाई सवा पाँच सौ धनुष (२१०० हाथ) प्रमाण है। यही कारण है कि भरत अपने नेत्र ऊपर कर देख रहे थे अत: जल्दी पलक झपक गई है।

पुन: दोनों भाई जल के सरोवर में उतरते हैं और एक-दूसरे पर जल के छींटें देना शुरू कर देते हैं। उस समय भी ऐसा लगता है कि मानों दोनों भाई आपस में प्रेम से जलक्रीड़ा ही कर रहे हैं। भरत का कद छोटा होने से यहाँ भी यही बात होती है। बाहुबली उनसे ऊँचे कद के थे अत: वे भरत के मुख पर जल के छींटें मार-मार उन्हें व्याकुल कर देते हैं। तब बाहुबली के पक्ष में पुन: विजय से जय-जयकार शुरू हो जाता है।

अब अन्त में दोनों भाई अखाड़े के मैदान में आ जाते हैं। दोनों भाइयों का शरीर पुष्ट है, सुदृढ़ है अत: बाहुयुद्ध में कुशल दोनों भाई बहुत देर तक एक-दूसरे को पछाड़ने का प्रयत्न करते रहते हैं किन्तु असफल ही रह जाते हैं। उस समय भी ऐसा प्रतीत होता है कि मानों ये दोनों भाई भ्रातृप्रेम वश गाढ़ आलिंगन करके मिल रहे हैं। अंत में बाहुबली भरत को उठाकर घुमा देते हैं और पुन: "ये बड़े हैं" ऐसा समझकर ही उन्हें पृथ्वी पर न पटक कर किन्तु भुजाओं से उठाकर अपने कन्धे पर बिठा लेते हैं। उस समय बाहुबली के पक्ष में अत्यधिक हर्षध्वनि से कोलाहल होने लगता है और इधर भरत के पक्ष में राजा लोग लज्जा से मस्तक झुका लेते हैं पुन: बाहुबली भरत को उतार कर

उच्चासन पर बिठा देते हैं। भरत इस अपमान से अत्यधिक लज्जा और आश्चर्य को प्राप्त हो जाते हैं —

"अहो! मैं चक्रवर्ती!! और मेरा यह सर्व राजाओं के सम्मुख अपमान!!"

वे क्रोध में विवेकशून्य होकर तत्क्षण ही चक्ररत्न का स्मरण करते हैं। उसी समय चक्र उनके हाथ में आ जाता है और वे उसे घुमाकर बाहुबली के ऊपर चला देते हैं परन्तु यह चक्र बाहुबली के पास जाकर उनकी तीन प्रदक्षिणा देता है पुनः तेजरहित हो उन्हीं के पास ठहर जाता है क्योंकि चक्र वंशज का घात नहीं करता है, यह नियम है। उस समय बड़े-बड़े राजा लोग चक्रवर्ती भरत को धिक्कारते हुए कहते हैं —

"...बस, बस राजन् ! आपका यह साहस बस हो।"

इन शब्दों से चक्रवर्ती भरत और अधिक सन्ताप को प्राप्त हो जाते हैं पुनः धीर-वीर बाहुबली उच्च स्वर में कहते हैं —

"अहो! आपने खूब ही पराक्रम दिखाया है।"

इन व्यंग्यात्मक शब्दों से भी भरत का हृदय बिंध जाता है। उसी क्षण बड़े-बड़े राजा लोग बाहुबली के समीप आकर उनकी विजय की प्रशंसा करते हुए उनका सत्कार करते हैं। उस समय बाहुबली भी अपने आपको उत्कृष्ट अनुभव करते हैं और साथ ही साथ संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर मन-ही-मन सोचने लगते हैं —

"अहो! देखो, हमारे बड़े भाई ने इस नश्वर राज्य के लिए यह कैसा लज्जाजनक कार्य किया है। यह साम्राज्य फल आगामी काल में बहुत ही दुःख देने वाला है, इसलिए उसे धिक्कार हो! सचमुच में यह राज्य कुलटा स्त्री के सदृश है। जैसे वह अपने पति को छोड़कर अन्य के पास चली जाती है वैसे ही यह राज्य भी अपने स्वामी को छोड़कर अन्य के हाथ में चला जाता है। ये पंचेन्द्रियों के विषय भी अनेक दुःखों की परम्परा के कारण हैं, विष से भी अधिक भयंकर है। विष खा लेने से प्राणी एक बार ही मरता है अथवा नहीं भी मरता है किन्तु इनका परिपाक अनन्त दुखों का कारण ही है क्योंकि भोगों में आसक्त हुआ प्राणी मरण करके नियम से नरक, निगोद आदि दुर्गतियों का भाजन बनता है। जितना कष्ट शस्त्रों के प्रहार से, प्रज्ज्वलित अग्नि से, वज्र से, विद्युत्पात से और बड़े-बड़े सर्पों से भी नहीं हो सकता है उतना कष्ट इन विषय भोगों के संपर्क से प्राणियों को इस अनन्त संसार में झेलना पड़ता है।

यह संसार भी सर्वथा असार है, जो आज अपने भाई-बन्धु, माता-पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि हैं वे ही पता नहीं कितने बार इस जीव के शत्रु बन चुके हैं अथवा इसी भव में शत्रुभाव धारण करते हुए देखे जाते हैं जो कि प्रत्यक्ष में ही अनुभव में आ चुका है। ओह! कहाँ ये मेरे बड़े भाई! जिन्होंने मुझे पुत्रवत् समझा था और कहाँ यह दुर्भाव! कि मुझ पर ही चक्र चला दिया। धिक्कार हो इस संसार को। यह शरीर भी एक दिन यमराज का ग्रास बन जाता है। जरा इसे जर्जरित कर देती है। इसकी सफलता इसी मे हैं कि इसे तपश्चर्या में लगाकर सुखा दिया जाये। ओह! यह साम्राज्य यद्यपि क्षण भंगुर है फिर भी मोह के उदय से प्राणी इसे नित्य मान लेता है, यही बड़े दुःख की बात है।"

इत्यादि प्रकार से चिंतवन करके बाहुबली भरत से कहते हैं —

"हे राजाओं में श्रेष्ठ भरत! क्षणभर के लिए अपनी झेंप को छोड़ों मैं जो कहता हूँ सो सुनो! तुमने राज्य के मोह के वश होकर ही न करने योग्य ऐसे बड़े भारी साहस को कर डाला है। अहो! तुमने कभी भी न

भिदने योग्य ऐसे मेरे शरीररूपी पर्वत पर जो यह चक्र चलाया है सो क्या कार्यकारी हो सकता था? तुमने अपने सहोदरों के साथ जो व्यवहार किया है उससे तुमने बहुत ही अच्छा धर्म और यश का उपार्जन कर लिया है। तुमने अपनी यह कीर्ति भी स्थापित कर दी है कि "चक्रवर्ती भरत" आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे जो कि अपने कुल के उद्धारक हुए थे।

हे भरत! आज तुमने जिसे पाया है पापों की खान, ऐसी इस राज्य लक्ष्मी को तुम अपने द्वारा उपभोग करने योग्य समझ रहे हो।

अरे! वेश्या सदृश इस लक्ष्मी पर तुम्हें अभिमान हो रहा है? यह किसकी रही है? तुम्हारे समान अनन्तों चक्रवर्ती हो चुके हैं और आगे भी अनन्तों होवेंगे। सभी इस साम्राज्य लक्ष्मी को छोड़-छोड़ कर जा चुके हैं और आगे भी सभी छोड़-छोड़ कर जावेंगे। यह किसी के साथ स्थायी रहने वाली नहीं है। फिर भी इसका तुमने आदर किया है और इसे अविनश्वर समझ रहे हो। यह राज्यलक्ष्मी अब तुम्हें ही प्रिय रहे, अब यह मेरे योग्य नहीं है। क्योंकि बन्धन सज्जन पुरुषों को आनन्द करने वाला नहीं होता है।

हे बन्धु? जो मैंने यह अपराध किया है उसे क्षमा कर दीजिए। मैंने आपकी विनय नहीं की सो यह मेरी चंचलता ही थी?"

बाहुबली के इन शब्दों से चक्रवर्ती भरत के संतप्त मन में कुछ शान्ति मिलती है पुनः वे पश्चाताप से आहत हुए कहते हैं —

"हा! मैंने बहुत ही बुरा किया। चक्र चलाना मुझे कथमपि उचित नहीं था-यह अघटित कार्य कैसे घटित हो गया?

बाहुबली कहते हैं —

"भाई! अब क्लेश और विषाद को छोड़िए और मुझे जैनेश्वरी दीक्षा लेने की आज्ञा दीजिए।"

इतना सुनते ही भरत का हृदय भ्रातृप्रेम से विह्वल हो जाता है। वे कहते हैं —

"भाई! तुम्हें इस समय ऐसा सोचना क्या उचित है? क्या यह तुम्हारे लिए दीक्षा का उपर्युक्त समय है? बस, अभी ऐसी बात मत कहो।"

बाहुबली हाथ जोड़कर अनुनयपूर्वक निवेदन करते हैं —

"अग्रज! क्या दीक्षा के लिए भी कोई समय निश्चित है? अरे! जब राज्य भोग से, शरीर से और स्त्री-पुत्रों से विरक्ति हुई कि बस, वही तो दीक्षा के लिए उपर्युक्त समय हो जाता है।"

भरत बाहुबली को अपनी भुजाओं में भर लेते हैं और बड़े प्रेम से कहते हैं —

"भाई! अभी कुछ दिन घर में रहो, राज्य की व्यवस्था संभालो फिर हम और तुम एक साथ ही दीक्षा लेंगे।"

बाहुबली कहते हैं —

"भाई! अब मुझे मत रोको, जाने दो। पूज्य पिता भगवान् ऋषभदेव के मार्ग का अनुसरण करने दो। बन्धु! जिस मार्ग पर चलना ही है पुनः उस पर चलने के लिए विलम्ब क्यों? अभी आप चक्रवर्तित्व के शासन का संचालन कीजिए और मुझे खुशी-खुशी आज्ञा दीजिए।"

इस प्रकार अपने संकल्प से पीछे न हटते हुए कामदेव बाहुबली अपने पुत्र महाबली को राज्य भार सौंप कर भाई को पुनः-पुनः प्रणाम कर वन की ओर चले जाते हैं। सभी राजा-महाराजा उनके साहस की, पुण्य कार्य की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने कार्य में संलग्न हो जाते हैं।

उधर बाहुबली अपने गुरु भगवान् ऋषभदेव के चरणों की आराधना करके सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण कर एक ही स्थान पर निश्चल खड़े हो जाते हैं।

(२२)

समस्त दिग्विजय पूर्ण कर लेने पर चक्ररत्न स्वयं अयोध्या में प्रवेश करने के लिए चल पड़ा। भरतेश्वर महाराज ने प्रसन्न हो अपनी जन्मभूमि में प्रवेश किया। उस समय अयोध्या नगर में अनेक ध्वजाएं फहर रही थीं, सर्वत्र गलियों में और राजमार्ग में चंदन का छिड़काव किया गया था, सर्वत्र पुष्पमालाएं लटक रही थीं और तोरण, वंदनवार बांधे थे। चतुरंग सेना के साथ और हजारों राजाओं के साथ सम्राट् भरत अयोध्यानगर के राजपथो से चल रहे थे। उस समय अनेक राजागण व अयोध्या के वृद्ध पुरुष चक्रवर्ती को शुभाशीर्वाद देते हुए वचन बोल रहे थे—

"हे सार्वभौम सम्राट्! हे भरतेश! आपकी लक्ष्मी संसार में अतिशय वृद्धि और प्रसिद्धि को प्राप्त होती रहे। आपका यश चिरकाल तक दिग्दिगंत व्यापी होता रहे। हे आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र! आपकी जय हो, विजय हो, आप चिरायु हों। युग-युग तक इस वसुन्धरा पर एकछत्र शासन करते रहें।"

इत्यादि प्रकार के मंगल आशीर्वचनों को सुनते हुए भरत महाराज अपने राजभवन के निकट पहुँचे। अपने हाथी से उतर कर सर्वप्रथम जिनमंदिर में प्रवेश कर जिनप्रतिमाओं के दर्शन किये, अनन्तर राजभवन में पहुँचकर माता यशस्वती और सुनन्दा को प्रणाम कर उनके चरणस्पर्श किये। माताओं ने भी हर्ष से रोमांचित हो भरत को अनेक आशीर्वाद देकर संतुष्ट किया।

अनन्तर भरत के राज्याभिषेक की तैयारी शुरू हुई। माता यशस्वती ने अनेक सुवासिनी स्त्रियों को साथ लेकर मंगलचौक पूरा। राज्य दरबार में जो अभिषेक मण्डप बनाया गया था। वह बहुत ही विशाल था। उसे पुष्पमालाओं से, तोरण द्वारों से और अनेक मंगलद्रव्यों से सजाया गया था। समस्त तीर्थों का जल मँगाया था और बड़े-बड़े रत्नों के घड़ों में भरकर उन पर कमल पुष्प रखे गये थे। चारों तरफ से अयोध्या की जनता उमड़ती चली जा रही थी। श्री ऋषभदेव के राज्याभिषेक के समय जैसी विधि हुई थी, वही सब विधि इस समय पुरोहित कर रहे थे। इसके बाद मांगलिक बाजे और नगाड़े बजने लगे।

देवों के साथ-साथ राजाओं ने भरतेश्वर का राज्याभिषेक करना शुरू किया। गंगा-सिन्धु नदियों की अधिष्ठात्री देवियों ने आकर रत्नों के श्रृंगारों से भरे हुए अक्षत् सहित पद्मसरोवर के जल से भरत का अभिषेक किया। हिमवान् और विजयार्ध पर्वत के अधीश्वर हिमवानदेव और विजयार्धदेव ने आकर तीर्थों के जल से चक्रवर्ती का अभिषेक किया। मागध, प्रभास और वरतनु देवों ने सपरिवार आकर गंगा-सिन्धु आदि नदियों के जल से अभिषेक किया था। अयोध्या के वृद्ध पुरुषों ने सरयू नदी के जल से चक्रवर्ती का राज्याभिषेक किया था और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं ने भी राज्याभिषेक किया था। उस समय आनन्द की महाभेरियाँ बार-बार बजायी जा रही थीं और उस आनन्द मण्डप में संगीत की विधि भी उसी प्रकार प्रारंभ की गई थी। मेरु पर्वत पर इन्द्रों द्वारा अभिषेक को प्राप्त हुए आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव की जैसी कांति हुई थी उसी प्रकार भरत क्षेत्र के सर्व राजाओं द्वारा अभिषिक्त महाराज भरत की हुई थी।

अभिषेक विधि पूर्ण कर राजाओं ने भरतेश्वर को आभूषण पहनाये और जयघोषणा करने लगे। उन राजाओं ने भरतेश के परिवार के लोगों का भी सत्कार किया और परिवार के लोगों ने इतना दान किया कि जिससे सर्वयाचक सन्तुष्ट हो गये। इसके बाद भरतेश्वर राजसिंहासन पर विराजमान हुए। उस समय गणबद्ध जाति के अनेक देवों ने आकर अपने मणि-मुकुटों को झुकाकर उन्हें नमस्कार किया। हिमवान् देव, विजयार्ध देव, मागध देव आदि अनेक देवों ने चक्रवर्ती को प्रणाम किया और उत्तर तथा दक्षिण श्रेणी के सर्व विद्याधर राजाओं ने भी मस्तक झुकाकर उन्हें नमस्कार किया।

उस काल में अनेक बड़े-बड़े राजाओं के द्वारा अभिषेक को प्राप्त होने पर भी राजा भरत को कुछ भी अहंकार नहीं हुआ था, क्योंकि महापुरुषों की मनोवृत्ति अहंकार का स्पर्श नहीं करती। यद्यपि उनके ऊपर बत्तीस चमर ढुराये जा रहे थे तथापि वे उनसे संतोष को प्राप्त नहीं हुए थे क्योंकि उन्हें इस बात का सतत् पछतावा हो रहा था कि—

"मैं अपनी विभूति भाइयों को नहीं बाँट पाया।"

भाई बाहुबली के संघर्ष से उनका तेज कुछ कम नहीं हुआ था। प्रत्युत्तर कसौटी पर कसे हुए सोने के समान अधिक ही हो गया था। इस प्रकार निष्कंटक सार्वभौम साम्राज्य को पाकर भरत महाराज सूर्य के समान देदीप्यमान हो रहे थे और उनका प्रताप बढ़ रहा था। योग और क्षेम को करने वाले उन उत्तम राजाधिराज भरत महाराज को पाकर सर्व भरतक्षेत्र के छह खण्ड के राजा लोग भी अपने को 'सनाथ' समझते थे तब प्रजा की तो बात ही क्या?

"ये भरत महाराज सोलहवें मनु हैं, चक्रवर्तियों में प्रथम चक्रवर्ती

हैं, षट्खंड भरत क्षेत्र के स्वामी हैं, राजराजेश्वर हैं, अधिराट् हैं और सम्राट हैं।"

इस प्रकार चक्रवर्ती का यश चारों तरफ गाया जा रहा था। उसी प्रकार—"यह भगवान् ऋषभदेव का पृत्र है, इसकी माता के सौ पुत्र हैं और इसकी कीर्ति आकाश तथा पृथ्वी में सर्वत्र व्याप्त हो रही है।"

ऐसे इन चक्रवर्ती का वैभव और परिवार कितना था? सो ही देखिए—

सुन्दर दाँतों से सुशोभित ऐरावत हाथी के समान चौरासी लाख हाथी थे। दिव्य रत्नों से निर्मित्त चौरासी लाख रथ थे इनका वेग वायु के समान था जो कि सूर्य के साथ भी स्पर्धा करने वाला था। अट्ठारह करोड़ घोड़े थे, इनके खुरों के अग्र भाग पवित्र गंगा जल से धुले हुए थे और ये घोड़े पृथ्वी, जल तथा आकाश में समान रूप से चलते थे। चौरासी करोड़ पदाति-पैदल सिपाही थे, इनका पुरुषार्थ अनेक योद्धाओं के मर्दन करने में समर्थ था।

बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके चरणों में नमस्कार करते थे। इन राजाओं से वेष्टित हुए महाराज भरत कुलाचलों से घिरे हुए सुमेरु पर्वत के समान सुशोभित होते थे। अच्छी-अच्छी रचना से युक्त बत्तीस हजार देश थे उन सबसे सुशोभित हुआ चक्रवर्ती का लम्बा-चौड़ा क्षेत्र बहुत ही अच्छा जान पड़ता था। बत्तीस हजार नाट्यशालाएं थीं जहाँ हमेशा अच्छे-अच्छे बाजे बजते रहते थे और संगीत-गीत नृत्य होते रहते थे। इन नाट्यशालाओं में तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के नाटक ही दिखाये जाते थे। बहत्तर हजार नगर थे जो कि इन्द्र के नगर के समान शोभा धारण कर रहे थे, अतः इन नगरों से यह नरलोक स्वर्गलोक के

समान सुन्दर दिख रहा था। इन चक्रवर्ती के छियानवे करोड़ गाँव थे इन गाँवों के बगीचों की शोभा नंदन वन को भी जीत रही थी। निन्यानवें हजार द्रोणमुख-बंदरगाह थे जो कि धन-धान्य की समृद्धि से समृद्ध थे। अड़तालीस हजार पत्तन थे, जिनके बाजार रत्नाकर के समान दिख रहे थे। सोलह हजार खेट थे जो कोट, कोट के प्रमुख दरवाजे, अटारियाँ, परिखायें और परकोटा आदि से शोभायमान थे। छप्पन अंतरद्वीप थे। ये कुभोगभूमि के मनुष्यों से व्याप्त थे तथा समुद्र के सारभूत पदार्थ के समान जान पड़ते थे। चौदह हजार संवाह थे। ये लोगों के योग और क्षेम आदि की समस्त व्यवस्थाओं को धारण करते थे तथा इन 'संवाह' के चारों ओर परिखा थी। नवीन वस्तुओं की प्राप्ति योग है और प्राप्त हुई वस्तुओं की रक्षा करना क्षेम है।

इन चक्रवर्ती के वैभव में एक करोड़ हंडे थे जो पाकशाला में बहुत से चावलों को एक साथ पकाने वाले थे। एक लाख करोड़ हल थे इनमें साथ में बीज बोने की नली लगी हुई थी। ये फसल आने के बाद निरंतर खेतों को जोतने में लगाये जाते थे। तीन करोड़ ब्रज-गौशालाएं थीं, इनमें सतत दही मथने का शब्द सुनाई देता रहता था, जिससे आकर्षित हो पथिक क्षण भर के लिए वहाँ ठहर जाते थे। सात सौ कुक्षिवास थे, इनमें रत्नों का व्यापार होता था। यहाँ पर आश्रय पाकर समीपवर्ती लोग भी आकर ठहर जाते थे। अट्ठाइस हजार सघन वन थे जो कि निर्जल प्रदेश और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ी विभागों में विभक्त थे। अट्ठारह हजार म्लेच्छ राजा चक्रवर्ती को प्रणाम करते थे। इनके देशों के चारों ओर रत्नों की खानें थीं।

चक्रवर्ती भरत के सोलह हजार गणबद्ध देव थे जो कि तलवार

धारण कर निधि रत्न और चक्रवर्ती की रक्षा करने में सदा तत्पर रहते थे। उनके महल को घेरकर 'क्षितिसार' नाम का कोट था और देदीप्यमान रत्नों के तोरणों से युक्त 'सर्वतोभद्र' नाम का गोपुर था। उनकी बहुत बड़ी छावनी के ठहरने का स्थान 'नंद्यावर्त' नाम का था और ''वैजयंत'' नाम का महल था जो सब ऋतुओं में सुख देने वाला था। 'दिक्स्वस्तिका' नाम की सभाभूमि थी जो कि बहुमूल्य रत्नों से जड़ी हुई थी। मणियों से बनी हुई 'सुविधि' नाम की छड़ी थी, चक्रवर्ती भरत टहलने के समय जिसे हाथ में लेते थे।

'गिरिकूटक' नाम का अत्यन्त ऊँचा राजमहल था, जिसकी छत पर खड़े होकर चक्रवर्ती सर्व दिशाओं का व सारे नगर का अवलोकन कर लेते थे। 'वर्धमानक' नाम की नृत्यशाला थी जिसमें भरत महाराज नृत्य देखा करते थे। इनके लिए गर्मी को नष्ट करने वाला 'धारागृह' नाम का बड़ा भारी स्थान था और वर्षा ऋतु में निवास करने के लिए 'गृहकूटक' नाम का ऊँचा महल था। चूना से सफेद हुआ 'पुष्करावर्त' नाम का खास महल था। 'कुबेरकांत' नाम का भण्डार गृह था जो कभी खाली नहीं होता था। 'वसुधारक' नाम का भारी अटूट कोठार था। 'जीसूत' नाम का चक्रवर्ती का स्नानगृह था जो कि बहुत बड़ा था।

चक्रवर्ती के 'अवतंसिका' नाम की अत्यन्त चमकती हुई रत्नों की माला थी। 'देवरम्या' नाम की बहुत बड़ी सुन्दर चांदनी थी। 'सिंहवाहिनी' नाम की शैय्या थी जिसे भयंकर सिंहों ने धारण कर रखा था और गुण तथा नाम दोनों से अनुत्तर 'अनुत्तर' नाम का सिंहासन था। 'अनुपमान' नाम के उत्तम चंवर थे जो कि उपमारहित थे और विजयार्धकुमार देव के द्वारा समर्पित किए गए थे। 'सूर्यप्रभ' नाम का अतिशय तेजस्वी छत्र था

जो बहुमूल्य रत्नों से बना था और सैकड़ों सूर्यों की प्रभा को जीतने वाला था। 'विद्युत्प्रभ' नाम के दो कुण्डल थे जो कि बिजली की दीप्ति को भी पराजित कर चमक रहे थे। 'विषमोचिका' नाम की खड़ाऊ थीं जो रत्नों की किरणों से व्याप्त थीं, चक्रवर्ती ही इन्हें पहनते थे। ये खड़ाऊ अन्य के पैर का स्पर्श होते ही विष छोड़ने लगती थीं। 'अभेद्य' नाम का कवच था जो कि महायुद्ध में शत्रुओं के द्वारा भी भेदन नहीं किया जा सकता था।

अजितंजय नाम का रथ था जिस पर अनेक दिव्य शस्त्र रखे हुए थे। वज्रकांड नाम का धनुष था, जिसकी प्रत्यंचा के आघात से समस्त संसार कांप जाता था और जिसने देव-दानव सभी को जीत लिया था। जो कभी व्यर्थ नहीं जाते, ऐसे 'अमोघ' नाम के बड़े-बड़े बाण थे। राजा भरत के 'वज्रतुंडा' नाम की शक्ति (अस्त्र विशेष) थी जो कि वज्र से बनी हुई थी और इन्द्र को भी जीतने में प्रशंसनीय थी। 'सिंहाटक' नाम का भाला था, इसकी नोंक बहुत तेज थी। यह मणियों के दण्डे के अग्रभाग पर सुशोभित था और सिंह के नाखूनों के साथ भी स्पर्धा करता था। 'लोहवाहिनी' नाम की छुरी थी जो अत्यन्त देदीप्यमान थी। इसकी मूठ बहुत ही चमक रही थी यह विजय लक्ष्मी के दर्पण के समान दिखती थी।

मनोवेग नाम का एक कणप (अस्त्र विशेष) था यह शत्रुओं के वंशरूपी कुलाचलों को नष्ट करने के लिए वज्र के समान था। 'सौनंदक' नाम की श्रेष्ठ तलवार थी। चक्रवर्ती के हाथ में लेते ही यह समस्त जगत झूले में बैठे हुए के समान काँप उठता था। भूतों के मुखों से चिह्नित 'भूतमुख' नामक खेट (अस्त्र विशेष) जो कि युद्ध के प्रारंभ में शत्रुओं

की मृत्यु के समान दिखता था। 'आनंदिनी' नाम की बारह भेरियाँ थीं जो कि अपनी समुद्र के समान गंभीर आवाज बारह योजन दूर तक पहुँचाती थी। इनके सिवाय बारह नगाड़े थे जिनकी आवाज भी दूर-दूर तक लोग सुना करते थे। पुण्यरूपी समुद्र से उत्पन्न हुए ऐसे 'गंभीरावर्त' नाम के चौबीस शंख थे इनकी आवाज गंभीर और शुभ थी।

चक्रवर्ती भरत के 'वीरांगद' नाम के कड़े थे जो उनकी हाथ की कलाई को सुशोभित कर रहे थे। अड़तालीस करोड़ पताकाएं थीं जो कि आकाशरूपी आँगन को स्वच्छ करती हुई वायु के झकोरों से हिलती रहती थीं।

चक्रवर्ती के शरीर का संस्थान समचतुरस्र था इससे उनके शरीर के अंगोपांग की रचना बहुत ही सम और सुन्दर थी। उनका संहनन 'वज्रऋषभनाराच' था जिसमें वज्र की हड्डियों के बन्धन और वज्र के वेष्टन से वेष्टित तथा वज्र की कीलियों से कीलित होने से भेदन के अयोग्य-अभेद्य था। उनकी कांति तपाये हुए सुवर्ण सम थी। उनके शरीर में चौंसठ लक्षण थे और स्वभाव से सुन्दर शरीर में तिल आदि व्यंजन बहुत ही सुशोभित हो रहे थे। छहों खंड के राजाओं का जो और जितना कुछ शारीरिक बल था उससे कहीं अधिक बल उन बलवान भरतेश के शरीर में था। चक्रवर्ती के छियानवे हजार रानियाँ थीं जिनमें बत्तीस हजार रानियाँ आर्यखंड के राजाओं की कन्यायें थीं। ये उच्च कुल और जाति से सम्पन्न, रूप लावण्य की खान और गुणों की खान थीं। बत्तीस हजार रानियाँ म्लेच्छ खंड के राजाओं की पुत्रियाँ थीं। ये अप्सराओं के समान सुन्दर थीं। बत्तीस हजार रानियाँ विद्या, बुद्धि आदि से सम्पन्न थीं। ये विद्याधर राजाओं की कन्यायें थीं। इनके सिवाय 'सुभद्रा' नाम की

पट्टरानी थी जो विद्याधर राजाओं में नमि-विनमि के वंश की थी। यह 'स्त्रीरत्न' कहलाती थीं।

चक्रवर्ती भरत के नवनिधि और चौदह रत्न थे। उनमें से नव-निधि के काल, महाकाल, नैसर्प्य, पांडुक, पद्म, माणव, पिंगल, शंख और सर्वरत्न नाम थे। इन निधियों से चक्रवर्ती इतने विशाल परिवार की व्यवस्था में भी बिल्कुल निश्चित रहते थे।

कालनिधि — यह निधि प्रत्येक दिन लौकिक शब्द-व्याकरण आदि शास्त्रों को उत्पन्न करती रहती थीं। वीणा, बांसुरी, नगाड़े आदि इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों को भी समय-समय पर देती रहती थी।

महाकाल — यह असि, मषि आदि छह कर्मों के साधनभूत द्रव्य और संपदाओं को निरन्तर उत्पन्न करती रहती थीं।

नैसर्प्य — यह निधि शय्या, आसन, मकान आदि उत्पन्न करती थी।

पांडुक — यह निधि धान्यों को देती थी और छहों रसों को भी उत्पन्न करती रहती थी।

पद्म — यह निधि रेशमी, सूती आदि सब तरह के वस्त्रों को देती रहती थी।

माणव — यह निधि नीतिशास्त्र और अनेक प्रकार के शब्दों को देती थी।

पिंगल — यह निधि अनेक प्रकार के दिव्य आभरण देती थी।

शंख — यह अपने प्रदक्षिणार्थ नाम के शंख से सुवर्ण की सृष्टि उत्पन्न करती थी।

सर्वरत्न — यह निधि महानील, नील, पद्मराग आदि मणि रत्नों को देती रहती थी, ये रत्न अपनी कांति से इंद्रधनुष की शोभा प्रगट करते रहते थे।

चौदह रत्नों में सात सजीव रत्न थे और सात अजीव रत्न थे। ये पृथ्वी की रक्षा और ऐश्वर्य के उपभोग के साधन थे। सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, सिलावट और पुरोहित ये सात सजीवरत्न थे। चक्र, छत्र, खण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अजीव रत्न थे।

स्त्री-सुभद्रा पट्टरानी, हाथी और घोड़ा इनकी उत्पत्ति विजयार्ध पर्वत पर हुई थी। चक्र, दण्ड, असि और छत्र ये चार रत्न आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे। मणि, चर्म और काकिणी ये तीन रत्न श्रीगृह में प्रगट हुए थे तथा अन्य रोध रत्न निधियों के साथ अयोध्या में ही उत्पन्न हुए थे। इन रत्न और निधियों से चक्रवर्ती का हृदय, अतिशय बलिष्ट हो रहा था अतः इन निधियाँ और रत्नों का वर्णन कौन कर सकता है?

चौदह रत्न —

१. चक्ररत्न — विजयशील चक्रवर्ती के सुदर्शन नाम का चक्ररत्न था जो समस्त दिशाओं में आक्रमण करने में समर्थ था। इसी को आगे कर चक्रवर्ती छहों खंड पृथ्वी को जीतकर एकछत्र शासन करते हुए चक्रधर, चक्रवर्ती, सार्वभौम सम्राट् आदि कहलाते हैं।

२. छत्ररत्न — यह छत्ररत्न द्वादश योजन विस्तृत विशाल सेना की मेघ आदि के दैविक उपद्रव से रक्षा करता था। चिलात और आवर्त म्लेच्छों ने मेघमुख देवों द्वारा किये हुये वर्षा के उपद्रव से रक्षा करने में समर्थ था।

३. दण्डरत्न — चंडवेग नाम का दण्डरत्न गुफा के द्वार को खोलने आदि में समर्थ था।

४. असिरत्न — सौनंदक नाम की सर्वश्रेष्ठ तलवार थीं, जिसको हाथ में लेते ही शत्रु कांपने लगते थे।

५. मणिरत्न—चूड़ामणि नाम का उत्तम चिंतामणि रत्न था जिसने जगत् के चूड़ामणि ऐसे भरतेश्वर का मन अनुरक्त कर लिया था।

६. चर्मरत्न—यह वज्रमय चर्मरत्न था जो कि जल आदि के उपद्रव से सेना की रक्षा करता था।

७. काकिणीरत्न—चिंताजननी नाम का वह काकिणीरत्न विजयार्ध पर्वत की गुफाओं के अंधकार को दूर करने में समर्थ था।

८. सेनापतिरत्न—अयोध्य (जयकुमार) नाम का सेनापति रत्न था जो कि मनुष्यों में रत्न था। विजयार्ध पर्वत की गुफाद्वार को उघाड़ने में समर्थ और और शत्रुओं को जीतने में यशस्वी था।

९. पुरोहितरत्न—बुद्धिसागर नाम का महाविद्वान् पुरोहित रत्न था। जो समस्त धार्मिक क्रियाओं को संपन्न कराता था। दैविक उपद्रव होने पर प्रतीकार करना भी इसी का नाम था।

१०. गृहपतिरत्न—कामवृष्टि नाम का गृहपति रत्न था जो कि इच्छानुसार सामग्री देने वाला तथा चक्रवर्ती के छोटे-बड़े सभी खर्चों की चिन्ता में नियुक्त था।

११. स्थपतिरत्न—भद्रमुख नाम का स्थपति—सिलावट रत्न था। यह अनेक राजभवन, मकान आदि बनाने में चतुर था।

१२. हस्तिरत्न—विजय पर्वत नाम का सफेद हाथी। यह पर्वत के समान ऊँचा, बहुत बड़ा और भद्र जाति का था, इसकी गर्जना बहुत ही उत्तम थी।

१३. अश्वरत्न—पवनंजय नाम का अश्वरत्न था। यह घोड़ा विजयार्ध पर्वत की गुफा के द्वार को खोलने के बाद कई कोश उछल कर सेनापति को दूर पहुँचाता था। इनका वेग वायु को भी जीतने वाला था।

१४. स्त्रीरत्न—'सुभद्रा' नाम की स्त्रीरत्न थी जो कि चक्रवर्ती को इन्द्रियजन्य भोगों में सन्तुष्ट करने में पूर्ण समर्थ, सौंदर्य और गुणों की खान थी।

इस प्रकार ये चक्रवर्ती के दिव्य चौदहरत्न थे जिनकी देवगण सतत् रक्षा किया करते थे और जिन्हें शत्रु भी कभी उल्लंघन नहीं कर सकते थे।

चक्रवर्ती के दश प्रकार के भोग साधन कहे हैं—१. रत्नसहित नवनिधियाँ २. रानियाँ ३. नगर ४. शय्या ५. आसन ६. सेना ७. नाट्यशाला ८. बर्तन ९. भोजन और १०. सवारी। ये दस भोगों के साधन हैं।

दिव्यभोजन— महाराज भरत का 'महाकल्याण' नाम का दिव्य भोजन था जिससे कि कल्याणमय शरीर को धारण करने वाले बल सहित तृप्ति और पुष्टि दोनों ही होती थीं।

अत्यन्त गरिष्ठ रस से उत्कट, स्वादिष्ट, सुगंधित, रुचिकर 'अमृतगर्भ' नाम के खाने योग्य मोदक आदि पदार्थ थे जिन्हें चक्रवर्ती के सिवाय अन्य कोई नहीं पचा सकता था।

'अमृतकल्प' नाम के स्वाद्य पदार्थ थे जिनका स्वाद बहुत ही अच्छा रहता था, मसाले वगैरह से जिनको संस्कारित किया जाता था, अतः ये स्वाद्य कहलाते थे।

'अमृत' नाम के दिव्य पानक—पेय पदार्थ थे जो कि रसायन के समान रसीले, मधुर रहते थे।

इन भोज्य, खाद्य, स्वाद्य और पेय पदार्थों को चक्रवर्ती के सिवाय अन्य कोई नहीं पचा सकता था।

चक्रवर्ती के ये सब भोगोपभोग के साधन उनके पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के फल थे। उन्हें अन्य कोई नहीं भोग सकता था और वे संसार में किसी वस्तु के साथ अपनी बराबरी नहीं रखते थे।

पुण्य के बिना चक्रवर्ती के समान अनुपम रूप-सम्पदा कैसे मिल सकती है? पुण्य के बिना वैसा अभेद्य शरीर का बंधन कैसे मिल सकता है? पुण्य के बिना अतिशय उत्कृष्ट निधि और रत्नों की ऋद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है? पुण्य के बिना वैसे हाथी, घोड़े, सेनापति आदि परिवार कैसे मिल सकते हैं? पुण्य के बिना दश प्रकार के भोगोपभोग कहाँ मिल सकते हैं? पुण्य के बिना द्वीप और समुद्रों का उल्लंघन करने वाली वैसी आज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है? पुण्य के बिना दिशाओं को जीतने वाली वैसी विजयलक्ष्मी कहाँ मिल सकती है? पुण्य के बिना देवताओं को भी नम्र करने वाला वैसा प्रताप कहाँ मिल सकता है? पुण्य के बिना समुद्र का उल्लंघन करने वाला वैसा उद्योग कैसे मिल सकता है? पुण्य के बिना तीनों लोकों को जीतने वाला वैसा प्रभाव कहाँ हो सकता है? पुण्य के बिना हिमवान् पर्वत को विजय करने वाला वैसा उत्सव कैसे मिल सकता है? पुण्य के बिना हिमवान् देव के द्वारा किया गया वैसा अधिक सत्कार कहाँ मिल सकता है? पुण्य के बिना गंगा-सिंधु नदियों की अधिष्ठात्री देवियों के द्वारा किया हुआ वैसा अभिषेक कहाँ मिल सकता है? पुण्य के बिना विजयार्ध पर्वत को जीतना कैसे संभव हो सकता है? पुण्य के बिना अन्य मनुयों को दुर्लभ वैसे रत्नों का लाभ कहाँ हो सकता है? पुण्य के बिना समस्त भरत क्षेत्र में वैसा सुन्दर विस्तार कैसे हो सकता है? और पुण्य के बिना दिशाओं के किनारे को उल्लंघन करने वाली वैसी कीर्ति कैसे हो सकती है? इसलिए—

"हे पण्डितजनों! चक्रवर्ती की विभूति को पुण्य के उदय से उत्पन्न हुई मानकर उस पुण्य का संचय करो जो कि समस्त सुख और सम्पदाओं की दुकान के समान है। छह खण्डों से विभूषित यह पृथ्वी जिनके नाम 'भरतभूमि' या 'भारत' इस नाम को प्राप्त हुई, जिसने दक्षिण समुद्र से लेकर हिमवान् पर्वत तक के इस क्षेत्र में शत्रुओं को जीतकर उसकी रक्षा की, प्रकट हुई रत्नों और निधियों से योग्य लक्ष्मी जिनके वक्षस्थल पर शयन करती थी, वे चक्रवर्तियों में प्रथम चक्रवर्ती भरतेश्वर महाराज सदा जयशील होते रहें।"

(२३)

महर्षि बाहुबली योग में लीन हैं। एक ही जगह एक ही आसन से खड़े रहने का नियम कर लिया है। न आहार है, न विहार है, न निहार है, न निद्रा है और न तंद्रा है। कई माह व्यतीत हो चुके हैं। उनके समीप का स्थान वन की लताओं से व्याप्त हो रहा है और उनके चरणों के निकट ही सर्पों ने वामियां बना ली हैं। उन वामियों के छिद्रों से निकल-निकल कर सर्पों के बच्चे चारों ओर उछल-कूद कर रहे हैं और अपने छोटे-छोटे फणों को ऊपर उठाकर बाहुबली की शांत मुद्रा को देख रहे हैं। प्रभु ने दीक्षा के समय ही केशलोंच किया था पुनः केशलोंच न करने से उनके लम्बे-लम्बे केश कंधों तक लटक रहे हैं। फूली हुई बासंती लता अपनी शाखारूपनी भुजाओं के द्वारा उनका गाढ़ आलिंगन कर रही हैं। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मुक्ति रूपी वल्लभा फूले हुए बासंती पुष्पों का हार लेकर प्रभु के गले में वरमाला ही डालने का उपक्रम कर रही हो।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय-निरोध, छह आवश्यक

क्रियायें, वस्त्रत्याग, अस्नान, अदन्तधावन, भूमिशयन, केशलोंच, एकभक्त और स्थिति-भोजन ये अट्ठाइस मूलगुण उनके परिपूर्ण हो चुके हैं। बाइस परीषहजय और बारह तप ये ३४ उत्तरगुण भी ध्यान में तन्मय होकर परिपूर्ण कर रहे हैं। इनके सिवाय चौरासी लाख उत्तरगुण भी हैं वे महामुनि उन सबके पालन करने में प्रयत्नशील हैं। इन सब में से कुछ भी न छोड़कर सबको ध्यान में पूर्ण करते हुए वे महामना व्रतों की उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त हो चुके हैं। जिस प्रकार देदीप्यमान किरणों से सूर्य-प्रकाशमान होता है उसी प्रकार वे भी तप की देदीप्यमान किरणों से प्रकाशमान हो रहे हैं।

वे रसगौरव, शब्दगौरव और ऋद्धिगौरव से रहित हैं। माया, मिथ्यात्व और निदान तीनों शल्यों से रहित होकर अत्यन्त निःशल्य हैं, दशधर्मरूप परिणत हो रहे हैं। भूख, प्यास आदि सम्पूर्ण परीषहों को जीत लेने से उनके विपुल कर्मों की निर्जरा हो रही है। वे महामुनि किसी एक विजिगीषु राजा के सदृश हैं। तीन गुप्तिरूपी दुर्ग का आश्रय ले रखा है, ज्ञानरूपी तलवार पास में है और पाँच समितिरूपी कवच पहने हुये हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चारों संज्ञाओं को नष्ट कर चुके हैं। कषायरूपी चोर उनके रत्नत्रयरूपी धन को नहीं चुरा सकते हैं क्योंकि वे बार-बार प्रमोदरहित होते हुए अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त करते रहते हैं। इस प्रकार अंतरंग शत्रुओं के प्रसार को बार-बार नष्ट करते हुए सर्वपदार्थों के ज्ञाता और आत्मतत्त्व के ज्ञाता बाहुबली अपने आत्मा के द्वारा ही अपनी आत्मा को जीत चुके हैं। शुद्धोपयोग में आरोहण करके आत्मा से ही उत्पन्न परमानन्द पियूष का अनुभव करते हुए परमतृप्ति को प्राप्त हो रहे हैं। उनके मनरूपी घर में सदा ज्ञानरूपी

दीपक प्रकाशमान हो रहा है इसलिए समस्त पदार्थ उनके ध्येय की कोटि में हैं। वे महायोगी मति और श्रुतज्ञान के द्वारा संसार के समस्त पदार्थों का चिंतवन करते रहते हैं। यही कारण है कि यह सारा जगत हाथ में रखे हुए आँवले के समान उनके ज्ञान में झलक रहा है। इस प्रकार वे बाहुबली कषायरूपी शत्रुओं को छोड़कर तपरूपी राज्य का अनुभव कर रहे हैं।

तपश्चरण का बल पाकर उन मुनिराज के योग के निमित्त से उत्पन्न होने वाली अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो चुकी हैं। मतिज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशम से कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियाँ प्रगट हो चुकी हैं। श्रुतज्ञान के विशेष उत्कर्ष से द्वादशांग और पूर्वों का ज्ञान पूर्ण हो चुका है। वे अवधिज्ञान में परमावधि का उल्लंघन कर सर्वावधि को प्राप्त कर चुके हैं और मनः पर्ययज्ञान विपुलमति मनपर्यय हो चुका है। ज्ञान की शुद्धि होने से तप की शुद्धि भी बहुत कुछ विशेष हो चुकी है क्योंकि जिस प्रकार बड़े वृक्ष के ठहरने में मूल कारण उसकी जड़ है वैसे ही तप के ठहरने में मूल कारण ज्ञान है।

वे उग्र और महाउग्र तप से अत्यन्त कृशकाय हो रहे हैं। फिर भी दीप्त नामक ऋद्धि से सूर्य के समान दैदीप्यमान हो रहे हैं। तप्तघोर और महाघोर के सिवाय सभी उत्तर तपों को भी तप रहे हैं।

यद्यपि वे मुनिराज सम्पूर्ण विक्रिया (रागद्वेषादि विकास भाव) को छोड़ चुके हैं तो भी तप के बल से उन्हें अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व ये आठ प्रकार की विक्रिया ऋद्धियाँ प्राप्त हो चुकी हैं।

अणु के बराबर शरीर को बना लेना अणिमा ऋद्धि है। इसके

प्रभाव से महर्षि अणु के बराबर छिद्र में प्रविष्ट होकर वहाँ की चक्रवर्ती के कटक और निवेश की विक्रिया द्वारा रचना कर सकता है।

मेरु के बराबर शरीर बना लेना महिमा ऋद्धि है। वायु से भी लघु (हल्का) शरीर बना लेना लघिमा ऋद्धि है। वज्र से अधिक गुरुतायुक्त शरीर को बना लेना गरिमा ऋद्धि है। भूमि पर खड़े रहकर अंगुलि के अग्रभाग से सूर्य-चन्द्र आदि को, मेरु के शिखरों को तथा अन्य वस्तु को प्राप्त (स्पर्श) कर लेना प्राप्ति ऋद्धि है। जल के सरोवर के समान पृथ्वी पर उन्मज्जन क्रिया कर सकना और पृथ्वी के समान जल पर गमन कर लेना यह प्राकाम्य ऋद्धि है। सब जगत पर प्रभुत्व हो जाना ईशत्व ऋद्धि है। सर्वजीव समूह का वश में हो जाना वशित्व ऋद्धि है। इसी तरह उनके औषधि ऋद्धियाँ भी प्रकट हो चुकी हैं।

जिस ऋद्धि के हो जाने पर मुनि के हाथ-पैर आदि शरीर पर स्पर्श मात्र कर लेने से सर्वरोग नष्ट हो जाते हैं वह आमौर्शोषधि ऋद्धि है और जिस ऋद्धि के होने पर मुनि से स्पर्शित जल अथवा वायु का भी स्पर्श हो जाने से सर्व रोग नष्ट हो जाते हैं, सब प्रकार के विष उतर जाते हैं वह सर्वोषधि ऋद्धि है। इन ऋद्धियों के प्रभाव से उनके पास आने वाले लोग अपने-अपने रोग, कष्ट, उपद्रव को दूर कर लेते हैं।

यद्यपि वे मुनि आहार नहीं ले रहे हैं, फिर भी शक्तिमात्र से ही उनके क्षीरस्रावी आदि रस ऋद्धियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं।

जिसके प्रभाव से हाथ पर आया हुआ रुक्ष आहार भी क्षीररूप परिणत हो जाता है अथवा उन मुनि के वचनों के सुनने मात्र से ही मनुष्य-तिर्यंचों के दुख, शोक, आदि शांत हो जाते हैं, वह क्षीरस्रावी ऋद्धि हैं।

जिसके प्रभाव से हाथ में आया हुआ रूखा आहार भी क्षण-भर में मधुर रस से युक्त हो जाता है अथवा जिसके प्रभाव से उन मुनि के वचन मधुर रस के समान मनुष्य-तिर्यंचों के रोग, शोक दुःखादि को नष्ट कर देते हैं वह मधुस्रावी ऋद्धि है।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के हाथ पर आया हुआ रूखा भोजन घृत-सदृश स्निग्ध हो जाता है अथवा जिनके वचन घृत-सदृश पोषक हैं वह घृतस्रावी ऋद्धि है।

जिसके प्रभाव से हाथ पर आया हुआ रुक्ष आहार या हलाहल विष भी अमृत बन जाता है अथवा जिस निमित्त से उन मुनि के वचन भी सभी सुनने वालों के लिए अमृत का काम करते हैं वह अमृतस्रावी ऋद्धि है। यद्यपि इन ऋद्धियों का उपयोग न उनके लिए ही हो रहा है न अन्य जीवों के लिये, फिर भी तपश्चर्या के प्रभाव से वे उनमें उत्पन्न हो चुकी हैं।

ऐसे ही बलऋद्धि भी प्रगट हो चुकी है।

जिसके बल से मुनि अंतर्मुहूर्त (अड़तालीस मिनट के अंदर) में सम्पूर्ण द्वादशांगरूप वाङ्मय का चिंतवन कर लेते हैं वह मनोबल ऋद्धि है।

जिसके बल से मुनि अंतर्मुहूर्त (अड़तालीस मिनट के अंदर) में सम्पूर्ण द्वादशांगरूप वाङ्मय का चिंतवन कर लेते हैं वह मनोबल ऋद्धि है।

जिसके बल से मुनि मास, चातुर्मास, छह मास आदि रूप कायोत्सर्ग करते हुए भी थकते नहीं हैं तथा शीघ्र ही तीनों लोकों को अपनी कनिष्ठा उंगली के ऊपर उठाकर अन्यत्र रखने में समर्थ हो सकते

हैं वह कायबल ऋद्धि है। यद्यपि इस ऋद्धि का प्रयोग कोई भी मुनि करते नहीं हैं, फिर भी ऐसी शक्ति उनमें है इतना ही समझना चाहिए।

इसी तरह से उनके अक्षीणमहानस और अक्षीणसंवास ऋद्धियाँ भी हो चुकी हैं।

जिसके प्रभाव से मुनि के आहार के अनंतर उस रसोई में बचे हुए भोजन में से जिस किसी भी प्रियवस्तु को यदि उस दिन चक्रवर्ती का सारा कटक भी जीम जावे तो भी वह वस्तु लेशमात्र भी क्षीण या कम नहीं होती है, वह अक्षीणमहानस ऋद्धि है।

इस प्रकार से वे महातपस्वी बाहुबली सम्पूर्ण ऋद्धियों की सिद्धि कर चुके हैं। विकल्परहित चित्त की वृत्ति धारण करना ही अध्यात्म है, ऐसा निश्चय कर वे योगिराज मान को वश में करके, निर्विकल्प ध्यान के अभ्यास में तत्पर हो रहे हैं क्योंकि इस लोक में योग की सिद्धि होने पर उत्कृष्ट सिद्धि-मुक्ति की प्राप्ति होती है, ऐसा योगी लोग कहते हैं।

ध्यान की सिद्धि के लिए जितने आसन माने गये हैं, जितनी भी मुद्राएँ होती हैं, जितनी भी धारणाएँ होती हैं और जो कुछ भी प्राणायाम आदि प्रयोग किये जाते हैं, वे सब उन अध्यात्मयोगी के अविचल ध्यान में पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं।

आमर्षौषधि, क्ष्वेलौषधि, जल्लौषधि विप्रुषौषधि और सर्वौषधि नाम की औषधि ऋद्धियाँ भी प्रगट हो चुकी हैं। जिनके प्रभाव से समीप में आए हुए लोगों के सभी प्रकार के रोग, उपद्रव आदि नष्ट हो जाते हैं, ऐसे योग-योगियों में श्रेष्ठ जितेन्द्रिय कहलाते हैं।

इसी बीच कुछ विद्याधर लोग अपने-अपने विमानों में बैठकर कहीं अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना के लिए जा रहे हैं। अकस्मात्

विमान की गति रुक जाने से नीचे की ओर देखते हैं—

"अहा! कोई महायोगी योगसाधना में लीन है।"

अपने-अपने विमानों को नीचे उतारकर विद्याधर लोग अपने परिवार के साथ उतरते हैं और आश्चर्य से चकित हुए धीरे-धीरे योगिराज के सन्मुख आते हैं। भक्ति में विभोर होकर नाना स्तोत्रों से स्तुति करते हुए पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं। निर्झर के जल से प्रभु के चरणों का प्रक्षालन कर जल, चन्दन, अक्षत्, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और नाना फलों से पूजा करते हैं। अनंतर आपस में चर्चा करते हुए महामुनी के गुणों की प्रशंसा कर रहे हैं—

"भगवन्! धन्य हैं आपका ध्यान और धन्य हैं आपकी तपश्चर्या। हे योगिराज! आप जैसे महामना ही कर्मों का नाश करके अविनाशी अनंत सुख को प्राप्त कर लेते हैं और वे फिर इस संसार में पुनः-पुनः जन्म नहीं धारण करते हैं।

इनकी तपश्चर्या के प्रभाव से यह तपोवन कैसा शांत है और कैसा मनोहर है? इन योगी के चरणों में ये सर्प कैसी क्रीड़ा कर रहे हैं? परस्पर विरोधी सिंह, व्याघ्र, हाथी, गाय, हरिण, रीछ, नेवला और मोर कितने प्रेम से यहाँ घूम रहे हैं? अरे! इधर तो देखो, यह सिंहनी हिरणी के बच्चे को दूध पिला रही है और यहाँ देखो, यह शेर-गाय के बछड़े को अपने पंजों से सहलाता हुआ कितना प्यार कर रहा है? ये सभी क्रूर हिंसक प्राणी परस्पर के बैर को छोड़कर हम मनुष्यों के रहते हुए कैसे विश्वस्त हुए घास चर रहे हैं। अहो! सिंह घास खा रहा है, बकरी का बच्चा शेरनी का दूध पी रहा है और तो क्या ? ये सर्प के बच्चे मयूर के गले में लटक-लटक कर झूला झूल रहे हैं और मयूरनी उन बच्चों को प्यार

कर रही है। उधर दृष्टिपात कीजिए, मोर आनंद में विभोर से नाच रहे हैं। हिरण के बच्चे छलांगें भर-भर कर उछलते हैं और सिंह की पीठ पर सवार हो जाते हैं।"

"इधर का दृश्य तो और भी अधिक सुहावना है। ये हाथी अपनी सूँड में कमल दबाए हुए चल रहे हैं। जरा देखो तो सही, ये क्या करेंगे?"

इसी बीच में हाथी उन लाए हुए कमलों को भगवान बाहुबली के चरणों पर चढ़ा देते हैं। सभी विद्याधर एक साथ जय-जयकार शब्द का उच्चारण करके आकाश गुँजा देते हैं। तभी एक हाथी अपनी सूँड में कमल लिए हुए सूँड को उठाकर चमर ढोरते हुए के समान नृत्य करने लगता है। कोयलें अपनी मधुर कुहू-कुहू वाणी से गीत प्रारंभ कर देती हैं। मयूर अपनी केकावाणी से बोलने लगते हैं। सारा तपोवन आनंदमय शब्दों से वाचालित हो उठता है। कुछ देर तक ये विद्याधर लोग अपने मित्रों के साथ और अपनी स्त्रियों के साथ भगवान् का गुणानुवाद करते हैं पुनः अपने-अपने विमान में बैठकर चले जाते हैं।

कुछ समय बाद बहुत से देव अपने-अपने विमानों में बैठकर वहाँ आ जाते हैं और जय-जयकार करते हुए भगवान् के चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हैं। स्वर्ग के कल्पवृक्षों की दिव्य अनुपम सामग्री से, पुष्पों से, रत्नों से पूजा करते हैं।

इधर देखो, भगवान् बाहुबली के चरणों के समीप में वामी के छिद्रों से निकले हुए ये काले-काले नाग अपने फणों को ऊपर उठाये हुए हैं, जो ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो भक्त लोगों ने प्रभु के चरणों में नीले-नीले कमल ही चढ़ा रखे हों।'

यह तपश्चरण कैसी शांति उत्पन्न करने वाला है। अहा! इधर देखो, ये लतायें हवा के झकोरे से अपनी डालियों को हिला-हिलाकर पुष्पों को बिखेर रही हैं कि मानो भक्ति में विभोर हो प्रभु के सम्मुख पुष्पवृष्टि ही कर रही हैं?

सामने देखो, वृक्ष आम, जामुन, नारियल, सुपारी, नारंगी, लीची आदि के फलों के भार से अतिशय झुक रहे हैं कि मानो भक्ति में विभोर हो प्रभु को नमस्कार ही कर रहे हैं। इन वृक्षों के पके-पके फल जो अपने आप गिर रहे हैं सो मानो ये वृक्ष अपनी शाखारूपी हाथों के द्वारा प्रभु के चरणों के समीप ही फल अर्पण कर रहे हैं।

ये महामुनि महान् आध्यात्मयोगी हैं। इन्होंने शरीर से आत्मा को पृथक् समझ लिया है। ये अपनी आत्मा को अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्यमय देख रहे हैं। अनंतगुणों के पुँजस्वरूप अपनी आत्मा का ही श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में तन्मयरूप चारित्र इस तरह से निश्चयरत्नत्रय रूप से परिणमन करते हुए शुद्धोपयोग में बार-बार जाते हैं पुनः उत्कृष्टतम शुभोपयोग में आ जाते हैं।

ये महायोगी इस तपश्चर्या के बल से केवल ज्ञान को प्राप्त करके अपनी आत्मा को सम्पूर्ण कर्मों से छुड़ाना चाहते हैं। सर्व कर्मक्षय के लिए ही ये ऐसी साधना कर रहे हैं।

इत्यादि प्रकार के अनेक चर्चा करते हुए देवगण चले जाते हैं। कुछ दिनों के बाद बहुत-सी विद्याधारियाँ एकत्रित हो जाती हैं। वे पुनः-पुनः भगवान् के ऊपर से लताओं को हटा देती हैं और जब कुछ दिन बाद आकर देखती हैं कि पुनः लतायें प्रभु के सर्वांग पर लिपट रही हैं।

भरत सम्राट ने छह खण्ड को जीतकर जो कीर्ति उपार्जित की और जिससे वे चक्रवर्ती कहलाये, ऐसे भरत की विजयलक्ष्मी दैदीप्यमान चक्र की मूर्ति के बहाने से इन बाहुबली के समीप आई थी परन्तु इन्होंने उसे तृणवत् तुच्छ समझकर तिरस्कृत कर दिया था कि जिससे मानो वह लज्जा को ही प्राप्त हुई थी। अहो......! पुनः ये ध्यान में अनुत्तरयोगी हो गये, ऐसे हे योगचक्रेश्वर! आपकी जय हो, जय हो, जय हो।

इत्यादि प्रकार से नाना स्तोत्रों से स्तुति करके वे विद्याधारियाँ चली जाती हैं। इसी तरह अनेक बार विद्याधर मनुष्यों के गमन रुक जाने से वे लोग उनकी सर्वोषधि आदि ऋद्धियों के प्रभाव से अनेक रोगों को दूर करते रहते हैं। प्रभु के ध्यान के प्रभाव से अनेक रोगों को दूर करते हैं। प्रभु के ध्यान के प्रभाव से कितने ही देवों के आसन बार-बार कंपित हो जाया करते हैं जिससे वे देव असंख्य परिवार देव-देवियों के साथ वहाँ आते रहते हैं और वंदन, पूजन-स्तवन आदि करके प्रभु की उपासना किया करते हैं।

भगवान् बाहुबली आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय धर्मध्यान को ध्याते रहते हैं। अहमिंद्र होने के पूर्व भव में जब ये सम्राट् वज्रनाभि के भाई महाबाहु थे तब भी इन्होंने दीक्षा लेकर धर्मध्यान से आगे पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान को ध्याकर उपशांतमोह नामक गुणस्थान में पहुँचकर, वहाँ पर ही समाधिमरण करके अहमिंद्र पद प्राप्त किया था। अब भी वे उत्कृष्टतम धर्मध्यान को ध्याते हुए बार-बार स्वस्थान अप्रमत्त नामक सप्तमगुणस्थान में आरोहण कर रहे हैं।

(२४)

समीचीन धर्मध्यान के बल से भगवान् बाहुबली के तप की शक्ति परिपूर्ण हो चुकी है। अब भगवान् लेश्या की विशुद्धि को बढ़ाते हुए शुक्ल ध्यानके सम्मुख हो रहे हैं। अब वे स्वस्थान अप्रमत्त का उल्लंघन कर सातिशय अप्रत्त गुणस्थान में पहुँच चुके हैं, आठवें गुणस्थान के सम्मुख हो रहे हैं।

आज एक वर्ष का उपवास समाप्त हो चुका है। इसी समय भरतेश्वर महाराज आते हैं और उनके ध्यान के प्रभाव को देखकर अतिशय गद्‌गद होते हुए भक्ति-भाव से साष्टांग नमस्कार करके स्तुति करते हैं—"हे योगिराज! जय हो, जय हो, आपकी जय हो। अहो, धन्य है आपकी तपश्चर्या, धन्य है आपका ध्यान धन्य है आपकी निश्चलता और धन्य है आपकी अध्यात्मवृत्ति। प्रभो! धन्य है आपका धैर्य और धन्य है आपकी एकाग्रता। भगवन् आपके निश्चल धर्मध्यान का माहात्म्य अद्‌भुत है, अपूर्व है। अहो! देखो, वन के क्रूर जन्तुओं के परस्पर की प्रीति, इस तपोवन में सदा ही बसंत ऋतु की बहार है। धन्य हो प्रभो! आपने आहारादि संज्ञाओं को, क्रोधादि कषायों को जीत लिया है, सम्पूर्ण परीषहों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं।" इत्यादि स्तुति करते हुए कल्पवृक्षों की दिव्य सामग्री जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल तथा उत्तम रत्नों से युक्त चक्रेश्वर भगवान् बाहुबली के चरणों की पूजा कर रहे हैं।

इसी बीच भगवान् बाहुबली क्षमक श्रेणी पर आरोहण करके अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में चलकर दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में पहुँचते हैं और वहाँ पर मोहनीय कर्म को निर्मूल नष्ट कर

तत्क्षण ही क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। वहाँ पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों कर्मों का निर्मूल चूर्ण करके तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर केवलज्ञान की परमोत्कृष्ट ज्योति को प्राप्त कर लेते हैं। इस कार्य में प्रभु को मात्र एक अन्तर्मुहूर्त ही समय लगता है।

"ये भरतेश्वर मेरे से संक्लेश को प्राप्त हुए हैं—मेरे निमित्त से इन्हें दुःख पहुँचा है।" यह विचार बाहुबली के हृदय में आ जाया करता था जो कि भरत के प्रति सौहार्द्र रूप था, इसलिए केवलज्ञान होने में भरत के पूजा की अपेक्षा रही थी।"[1]

"यह सम्पूर्णधरा भरत की भूमि है, ऐसा समझकर ही वे ध्यान में दो तलवे के बल खड़े हुए थे। भरत का ही सर्वत्र साम्राज्य होने से उन्होंने आहार नहीं लिया था। "मैं भरत की भूमि में खड़ा हूँ" उनके मन में यह शल्य थी इसीलिए उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ था और जब भरत ने समझाया—"अहो! यह वसुधा किसकी रही है?" तब उनके मन की शल्य दूर होने से उन्हें केवलज्ञान हुआ।" ऐसी जो किंवदंती है वह भगवज्जिन-सेनाचार्य के आदिपुराण ग्रंथ से मेल नहीं खाती है क्योंकि इस प्रकार के शल्य के होने पर उन्हें मनः पर्ययज्ञान और अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ नहीं हो सकती थीं। उनके ध्यान को धर्मध्यान संज्ञा नहीं आ सकती थी और उनके ध्यान के प्रभाव का ऐसा चमत्कार भी नहीं हो सकता था जैसा कि आदिपुराण में वर्णित है अतः भगवान् बाहुबली में

१. संक्लिष्टो भरताधीशः स्नेऽस्मत्त इति यत्किल।
हृयस्य हार्दं तेनासीतर तत्पूजापेक्षि केवलम् ।।
(महापुराण, पर्व ३३)

शल्य मानना असंगत है। वास्तव में उन्होंने दीक्षा लेते ही एक वर्ष का उपवास ग्रहण कर लिया था, ऐसा वर्णन आया है।

इधर भरत सम्राट की पूजा चल रही है उधर एक समय में ही भगवान् बाहुबली इस भूतल से ५००० धनुष (२०,००० हाथ) प्रमाण ऊपर आकाश में अधर पर पहुँच जाते हैं। इन्द्रों के आसन कम्पित होते ही उसी समय वे लोग स्वर्ग से आकर दिव्य गंधकुटी की रचना कर देते हैं। भगवान् बाहुबली गंधकुटी के मध्य कमलासन पर चार अंगुल अधर विराजमान हो जाते हैं।

उस समय स्वर्ग के नंदनवन के वृक्षों को भी हिलाने में चतुर तथा गंगा नदी की बूँदों से मिश्रित ऐसी सुगन्धित हवा धीरे-धीरे चल रही है। देवगण आकाश में दुंदुभि बाजे बजा रहे हैं, कल्पवृक्षों के खिले हुए रंग-बिरंगे फूलों की वर्षा कर रहे हैं, भगवान् के मस्तक के ऊपर देवरूपी कारीगरों के द्वारा बनाए हुए रत्नों के छत्र सुशोभित हो रहे हैं। प्रभु जिस पर आसीन हैं ऐसा वह सिंहासन बहुमूल्य दिव्य मणियों से निर्मित है। देवगण भगवान् के दोनों बाजू में खड़े होकर चंवर ढोर रहे हैं और भगवान् के पीछे सुन्दर अशोक वृक्ष दर्शक के शोक को नष्ट कर रहा है। ऐसी इस गंधकुटी के मध्य भगवान् बाहुबली विराजमान हैं। इस गंधकुटी में बारह कोठे बने हुए हैं। यथायोग्य अपने-अपने कोठे में आकाशगामी ऋद्धिधारी आदि महामुनि विराजे हैं। क्रम से चतुर्निकाय देव-देवियों का समूह, आर्यिकाएं-श्राविकाएं और तिर्यंच भी अपने-अपने कोठे में आकर बैठ गये हैं।

उस समय भरत सम्राट् आदि सभी लोग बीस हजार सीढ़ियों को अल्प समय में ही पारकर भगवान् के सन्मुख पहुँच जाते हैं और

अतिशय प्रसन्न हो स्तुति करते हैं —

"हे भगवन् ! आपने अपनी आत्मा से कर्म-कलंक को दूर कर दिव्य अक्षय, अनन्त ऐसा केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। आप अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य इन अनन्त चतुष्टय के धनी बन गये हैं। हे नाथ! आपने स्वयं अपने द्वारा, अपने लिए, अपने आपसे, अपने में, अपने को ही ध्याकर अपनी आत्मा को प्राप्त कर लिया है अतः अब आप पूर्ण स्वतंत्रता को और पूर्ण शांति को प्राप्त कर चुके हैं। आपकी जय हो, जय हो, जय हो। हे नाथ! आप ध्यानचक्र के द्वारा सम्पूर्ण अंतरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर तीन लोक के अखण्ड साम्राज्य के स्वामी हो चुके हैं। हे ध्यान धुरंधर! आप जैसा निश्चल ध्यान हमें भी प्राप्त हो।

इत्यादि रूप वाक्यों से स्तुति करके पुनः-पुनः नमस्कार करते हैं। अनन्तर अपने सभी मंत्रियों, अनेक राजाओं, अंतःपुर की समस्त रानियों, पुत्र-पुत्रियों एवं पुरोहित जनों के साथ भगवान् की अनुपम पूजा करते हैं। गंगाजल की जलधारा देते हैं, दिव्य कल्पवृक्ष से उत्पन्न केशर के सुवर्णसदृश चंदनद्रव्य को चढ़ाते हैं, मोतियों के अक्षत पुंज रचते हैं। पारिजात, मंदार आदि कल्पवृक्षों के दिव्य पंचरंगी पुष्पों से पुष्पांजलि करते हैं, अमृत के पिंडरूप नैवेद्य को चढ़ाते हैं, रत्नों के दीप से आरती उतारते हैं, कल्पद्रुम के टुकड़ों से बनी हुई सुगंधित धूप खेते हैं और फलों के स्थान पर रत्नों सहित समस्त निधियों को चढ़ा देते हैं। रत्नों के पुंज से युक्त अष्टद्रव्य मिश्रित अर्घ्य समर्पित करते हैं।

इस विषय में अधिक कहाँ तक कहा जाए। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि उस समय भरत सम्राट के द्वारा की गई भगवान् बाहुबली की पूजा अपने आप में एक अनुपम होने से वही उपमान थी और वही उपमेय थी। उसके लिए अन्य कोई उपमा नहीं दी जा सकती है।

अहो! प्रथम तो ये बाहुबली भरत के छोटे भाई हैं, दूसरी बात भरत को धर्म से अतिशय प्रेम है, तीसरी बात उन दोनों का पूर्व के अनेक जन्मों से संबंध चला आ रहा है और चौथी बात उन दोनों में आपस में बहुत भारी प्रेम रहा आया है। इन चारों में से एक-एक भी भक्ति की अधिकता को बढ़ाने वाले हैं अतः यदि ये चारों सामग्री एक साथ मिल जावें, फिर भला उस समय की भक्ति के बारे में क्या कहा जा सकेगा?

"भरत महाराज ने केवलज्ञान होने के पहले जो पूजा की थी वह अपने अपराध को दूर करने के लिए की थी और जो केवलज्ञान के बाद में की थी वह केवलज्ञान की उत्पत्ति का अनुभव करने के लिए की थी।"

स्वर्ग से आये हुए इन्द्रगण भी अपने असंख्य परिवार देवों के साथ भगवान् बाहुबली की अनुपम स्तुति करते हैं —

"हे तीन लोक के नाथ! आपने जैसा ध्यान किया है वैसा ध्यान आपके सिवाय और कौन कर सकता है? इसलिए आप ध्यान के चक्रवर्ती हैं। हे भगवन् ! अनंत संसार में भटकते हुए हम संसारी प्राणियों को हाथ का अवलंबन देकर मोक्षमार्ग में स्थापित कीजिए। हे स्वामिन्! संसार के अनंतदुःखों से हम लोगों की रक्षा कीजिए।"

इत्यादि स्तोत्रों से स्तुति करके पुनः-पुनः वंदना करते हैं। तदनंतर सभी इन्द्रगण भी अपने-अपने परिकर के साथ और इन्द्राणियों के साथ मिलकर स्वर्गलोक की दिव्य सामग्री से अनुपम पूजा करते हैं।

पुनः सभी लोग अपने-अपने कोठे में बैठकर भगवान् की दिव्य-

ध्वनि से दिव्य धर्म-सुधारस का पान कर रहे हैं। भगवान् बाहुबली उपदेश दे रहे हैं। उस समय न उनके ओंठ हिलते हैं, न कण्ठ-तालु आदि का व्यापार होता है, न मुख पर किंचित् परिवर्तन होता है और न उनके हाथ ही उठते हैं। केवल उनके मुख-कमल से बिना प्रयत्न के निरक्षरी दिव्य-ध्वनि खिर रही है। भक्त लोग अपनी-अपनी भाषा में उसे समझ रहे हैं अतः वह सात सौ अठारह भाषारूप अथवा सभी उपस्थित जनों की भाषा में परिणत होने से संख्यात् भाषा रूप हो रही है, इसलिए वह साक्षरी भी है। भगवान् कहते हैं—

"हे भव्यजीवों! अनादि-अनंतरूप इस संसार समुद्र को पार करने के लिए समीचीन धर्म ही एक उत्तम जहाज है अतः यदि तुम लोग जन्म-मरण के दुःखों से श्रात हो चुके हो और उनसे छूटना चाहते हो तो इस रत्नत्रयरूपी धर्म जहाज का आश्रय लो। यह धर्म ही इस लोक में धन, सम्पत्ति, परिवार की अनुकूलता, शारीरिक स्वस्थता, संतति और समृद्धि को करने वाला है। यह धर्म ही परलोक में इन्द्र के ऐश्वर्य को कामदेव, बलभद्र, चक्रवर्ती आदि के भोगों को देने वाला है और यह धर्म ही नरक, निगोदों के दुःखों से निकालकर उत्तम मोक्षसुख को भी प्रदान करने वाला है, इसलिए इसी को हृदय में धारण करो।"

इत्यादि रूप से भगवान् के दिव्य उपदेशामृत का पान कर भरत सम्राट् पुनः पुनः उन्हें नमस्कार कर अपनी अयोध्या नगरी में वापस आ जाते हैं। इन्द्र की प्रार्थना के नियोग मात्र से वीतरागी भगवान् बिना इच्छा के नैसर्गिक ही भव्यों के हितार्थ इस भरतभूमि में "श्रीविहार" करते हैं। उनके चरणों के तले दिव्य कमलों की रचना होती चली जा रही है और उनका विहार आकाश मार्ग में ही हो रहा है। पुष्पों की वर्षा, दिव्य

सुगंधित गंधोदक की वर्षा हो रही है। दिव्य सुरभित पवन बह रही है, देव दुंदुभि बज रही है और आकाश तथा भूमण्डल को एक करते हुए देव, विद्याधर व मनुष्यगण प्रभु के पीछे-पीछे चल रहे हैं।

बहुत काल तक श्रीविहार करते हुए अपनी दिव्यवाणीरूपी अमृत से असंख्य भव्यजीवरूपी खेती का सिंचन करते हुए भगवान् बाहुबली कैलाशपर्वत पर पहुँचते हैं। वहाँ पर भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में केवलियों के कोठे में विराजमान हो जाते हैं। कालांतर में योगनिरोध कर अघातिया कर्मों का भी नाशकर शाश्वत मुक्ति साम्राज्य को प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ पर सदा-सदा के लिए अपने ही आत्मा से उत्पन्न हुए सहज परमानंदामृत का पान कर रहे हैं। अब न जन्म लेना है, न मरना है, न संसार के सुख-दुखों को ही भोगना है। वहाँ उन्हें न भूख है, न प्यास है, न चिंता है, न पराजय है, न व्याधि है और न क्लेश ही है। अक्षय, अव्याबाध, अनंतसुख का अनुभव करते हुए वे भगवान् अनंतकाल तक वहीं पर रहेंगे। इस युग में एक वर्ष का ध्यान कर मोक्ष जाने वाले ऐसे बाहुबली भगवान् हमें भी सुगति प्रदान करें।

(२५)

भरत चक्रवर्ती अनेक राजाओं के साथ सर्व भारतवर्ष को जीतकर साठ हजार वर्ष में दिग्विजय पूर्ण कर वापस अपनी जन्मभूमि में आ गये। साम्राज्य पद पर उनका अभिषेक होने के बाद वे सब कार्य कर चुके तव उनके मन में यह चिंता उत्पन्न हुई कि—

"दूसरे के उपकार में मेरी इस संपदा का उपयोग किस प्रकार हो सकता है? मैं श्री जिनेन्द्रदेव का बड़े ऐश्वर्य के साथ महामह नाम का यज्ञ कर धन वितरण करता हुआ समस्त संसार को संतुष्ट करूँ? सदा

निःस्पृह रहने वाले मुनिजन तो हम लोगों से धन लेते नहीं है परन्तु ऐसा गृहस्थ भी कौन है जो धन-धान्य आदि संपत्ति के द्वारा पूजा करने के योग्य है। जो अणुव्रत को धारण करने वाले हैं, धीर-वीर हैं, और गृहस्थों में मुख्य हैं, ऐसे पुरुष ही हम लोगों के द्वारा इच्छित धन तथा सवारी आदि वाहनों के द्वारा तर्पण करने के योग्य हैं।''

इस प्रकार निश्चय कर सत्कार करने के योग्य व्यक्तियों की परीक्षा करने की इच्छा से राजराजेश्वर भरत ने उस समय समस्त राजाओं को बुलाया। सबके पास सूचना भेजी कि—

''आप लोग अपने-अपने सदाचारी इष्ट-मित्र तथा भृत्य आदि के साथ आज हमारे उत्सव में अलग-अलग आवें।''

इधर चक्रवर्ती ने उन सबकी परीक्षा के लिए अपने घर के आंगन में हरे-हरे अंकुर, पुष्प और फल खूब भरवा दिये। उन आगत राजाओं में जो अव्रती थे वे बिना किसी सोच-विचार के राजभवन में घुस आये। राजा भरत ने उन्हें एक ओर बिठाकर बाकी बचे हुए लोगों को बुलाया परन्तु बड़े-बड़े कुल में उत्पन्न हुए और अपने व्रत की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील उन लोगों ने जब तक मार्ग में हरे अंकुर हैं, तब तक उसमें प्रवेश करने की इच्छा नहीं की। पाप भीरु कितने ही लोग दयालु होने के कारण हरे अंकुरों से भरे राजा के आंगन को उल्लंघन किये बिना ही वापस लौटने लगे परन्तु जब चक्रवर्ती ने उनसे पूछा—

''आप लोग पहले किस कारण से नहीं आये थे और अब किस कारण से आ आये?''

तब उन लोगों ने जवाब दिया—

''हे चक्रवर्तिन्! आज पर्व के दिन कोंपल, पत्ते तथा पुष्प आदि

का विघात नहीं किया जाता है और जो अपना कुछ बिगाड़ नहीं सकते, ऐसे उन कोंपल आदि में उत्पन्न होने वाले जीवों का भी विनाश नहीं किया जाता है। हे देव! हरे अंकुर आदि में अनंत निगोदिया जीव रहते हैं, ऐसे सर्वज्ञदेव के वचन हम लोगों ने सुने हैं, इसलिए जिसमें गीले-गीले फल, पुष्प और अंकुर आदि से शोभा की गई है, ऐसे आपके आंगन में आज हम लोगों ने प्रवेश किया था, पुनः जब प्रासुक मार्ग से रास्ता मिला तब हम लोग आये हैं।''

इस प्रकार उनके वचनों से प्रभावित हुए भरत ने व्रतों में दृढ़ रहने वाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हें दान, मान आदि सत्कार से सम्मानित किया। पद्म नाम की निधि से प्राप्त हुए एक से लेकर ग्यारह तक की संख्या वाले ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) नाम के सूत्र-व्रतसूत्र से उन सबके चिन्ह किये। प्रतिमाओं के द्वारा किये गये अनुसार उन व्रतिकों ने यज्ञोपवती धारण किये, तब भरत ने इन सबका सत्कार किया तथा जो व्रती नहीं थे उन्हें व्रत धारण कराने वाले महापुरुष अपने-अपने व्रतों में और भी अधिक दृढ़ता को प्राप्त हो गये तथा चक्रवर्ती की आज्ञा से अन्य लोग भी उनका सत्कार करने लगे।

भरत सम्राट् ने उन्हें उपासकाध्ययन अंग से इज्या, वार्ता, दत्ति स्वाध्याय, संयम और तप का उपदेश दिया।

''यह आपका कुलधर्म है।''

ऐसा कहकर राजर्षि भरत ने उस समय अनुक्रम से अर्हत् पूजा आदि का वर्णन किया। वे कहने लगे—

१. ''इज्या—इज्या का अर्थ है अर्हंतदेव की पूजा। इस पूजा के चार भेद हैं-सदार्चन, चतुर्मुख, कल्पद्रुम और आष्टान्हिक। घर से गंध,

पुष्प, अक्षत आदि अष्टद्रव्य सामग्री ले जाकर नित्य प्रति जिनालय में श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करना सदार्चन अर्थात् नित्यमह कहलाता है अथवा भक्तिपूर्वक अर्हंत देव की प्रतिमा और मंदिर का निर्माण कराना तथा दान-पत्र लिखकर ग्राम, खेत आदि का दान देना भी नित्यमह कहलाता है। इसके सिवाय अपनी शक्ति के अनुसार नित्य ही दान देते हुए महामुनियों की जो पूजा की जाती है उसे भी 'नित्यमह' कहते हैं।''[1]

महामुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो महायज्ञ-महापूजन की जाती है वह चतुर्मुख है इसे सर्वतोभद्र भी कहते हैं।

जो चक्रवर्तियों द्वारा किमिच्छक-मुहमाँगा दान देते हुए सर्व जगत् की आशा को पूर्ण करने वाली जिनेन्द्रदेव की पूजा की जाती है। वह कल्पद्रुम नाम की पूजा कहलाती है। अर्थात् जिस यज्ञ विधान में कल्पवृक्ष के समान सबकी इच्छाएं पूर्ण की जावें उसे कल्पद्रुम यज्ञ कहते हैं, यह चक्रवर्ती ही कर सकते हैं।

वर्ष में तीन बार आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास के अंत के आठ दिनों में जो नंदीश्वर पर्व की उपासना में महापूजा की जाती हैं, इसे सर्व लोग करते हैं।

इनके सिवाय एक 'ऐन्द्रध्वज' नाम का महायज्ञ भी है जिसे इंद्रगण ही करते हैं।

---

१. चैत्य चैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत्।
शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनं।।२८।।
या च पूजा मुनींद्राणां नित्यदानानुषंगिणी।
स च नित्यमहो ज्ञेयो यथा शक्त्युपकल्पितः।२९।।
(आदिपुराण, पर्व ३८)

बलि अर्थात् नैवेद्य चढ़ाना, अभिषेक करना, तीनों संध्याओं में उपासना करना तथा इनके समान और भी जो पूजा के प्रकार हैं वे सब इन्हीं भेदों में अंतर्भूत हैं। इस प्रकार की विधि से जो जिनेन्द्रदेव की महापूजा की जाती है उसे विधि के ज्ञाता आचार्य 'इज्या' नाम की प्रथम वृत्ति कहते हैं।

२. वार्ता—विशुद्ध आचारणपूर्वक खेती आदि छह क्रियाओं में से किसी के द्वारा भी आजीविका करना वार्ता कहलाती है।

३. दत्ति— दान देना दत्ति है, इसके चार भेद हैं—दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति।

अनुग्रह करने योग्य जीवों पर दयापूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धि के साथ उनका भय दूर करना दयादत्ति है। इसे करुणादान कहते हैं। जैसे कि अंधे, लंगड़े आदि को करुणापूर्वक उनके योग्य भोजन, वस्त्र, औषधि आदि देना यह सब करुणा दान है।

महातपस्वी मुनियों को सत्कारपूर्वक पड़गाहन कर जो आहार दान देना है वह पात्रदत्ति है। पात्र के उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन भेद माने हैं। मुनि उत्तम पात्र हैं, देशव्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं और अव्रती सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। इन पात्रों को यथायोग्य विधि से आहार, औषधि, ज्ञान और वसतिका का दान देना पात्रदान है।

क्रिया, मंत्र और व्रत से जो अपने समान हैं तथा जो संसार समुद्र से पार कर देने वाले कोई अन्य उत्तम गृहस्थ हैं उनके लिए पृथ्वी, सुवर्ण आदि देना या मध्यम पात्र के लिए समान बुद्धि श्रद्धा के साथ जो दान दिया जाता है वह समदत्ति या समानदत्ति है।

अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को समस्त कुलपद्धति तथा

धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पण कर देना अन्वयदत्ति है। इसे सकलदत्ति भी कहते हैं।

४. स्वाध्याय—शास्त्रों की भावना करना, पढ़ना, पढ़ाना आदि स्वाध्याय है।

५. संयम—व्रत धारण करना, त्रसहिंसा का त्याग कर इन्द्रियों को वश में रखना संयम है।

६. तप—उपवास आदि करना, कनकावली, मुक्तावली, दशलक्षण, पंचमेरु, आष्टाह्निक आदि व्रतों को करना यह सब तप है[१]।

यह छह प्रकार की विशुद्धि वृत्ति आप द्विजों को—ब्राह्मणों को करने योग्य है। जो इनको नहीं करता है वह नाममात्र से द्विज है, गुणों से नहीं। तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होने के कारण हैं। जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञान से रहित है वह केवल जाति से ही ब्राह्मण है। आप लोगों की आजीविका पाप रहित है इसलिए आपकी जाति उत्तम कहलाती है तथा दान, पूजा, अध्ययन आदि कार्य मुख्य होने के कारण व्रतों की शुद्धि होने से वह उत्तम जाति और भी सुसंस्कृत हो गई है।

यद्यपि जाति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है तथापि आजीविका के भेद से होने वाले भेद के कारण वह चार प्रकार की हो गई है। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और नीचवृत्ति का आश्रय लेने से अर्थात् दूसरों की सेवा , नौकरी आदि करने से शूद्र कहलाते हैं। जो एक बार गर्भ से और दूसरी बार क्रिया से इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुआ हो उसे द्विजन्मा या द्विज कहते हैं परन्तु जो क्रिया और मंत्र दोनों से ही रहित

१. सागार धर्मामृत।

है वह केवल नाम को धारण करने वाला द्विज है।"

इस प्रकार उन द्विजों की जाति के संस्कार को दृढ़ करते हुए सम्राट् भरतेश्वर ने द्विजों के लिए विस्तार से उपदेश दिया।

(२६)

श्रीमान् भरतेश्वर ने श्रावकाध्याय संग्रह के आधार से तीन प्रकार की क्रियाओं का उपदेश दिया—

"हे महानुभाव! गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया ये क्रियायें तीन प्रकार की क्रियायें हैं। इनमें से गर्भान्वय क्रियायें आधान आदि तिरपन प्रकार की हैं। दीक्षान्वय क्रियायें अड़तालीस हैं और कर्त्रन्वय क्रियायें सात हैं।"

समुद्र से भी दुस्तर ऐसे बारह अंगों में से सातवें उपासकाध्ययन अंग से मुझे जो कुछ भी ज्ञान का अंश प्राप्त हुआ है उसी के अनुसार कहता हूँ। सर्वप्रथम आधान आदि त्रेपन क्रियाओं के नाम और उनके लक्षण कहता हूँ—

१. आधान २. प्रीति ३. सुप्रीति ४. धृति ५. मोद ६. प्रियोद्भव ७. नामकर्म ८. बहिर्यान ९. निषद्या १०. प्राशन ११. व्युष्टि १२. केशवाप १३. लिपिसंख्यान संग्रह १४. उपनीति १५. व्रतचर्या १६. व्रतावरण १७. विवाह १८. वर्णलाभ १९. कुलचर्या २०. गृहीशिता २१. प्रशांति २२. गृहत्याग २३. दीक्षाद्य २४. जिनरुपता २५. मौनाध्ययनवृत्तित्व २६. तीर्थकृत भावना २७. गुरुस्थानाभ्युदय २८. गणोपग्रहण २९. स्वगुरु स्थान संक्रांति ३०. निःसंगत्वात्मभावना ३१. योगनिर्वाणसंप्राप्ति ३२. योगनिर्वाण साधन ३३. इन्द्रोपपाद ३४. अभिषेक ३५. विधिदान ३६. सुखोदय ३७. इन्द्रपदत्याग ३८. अवतार ३९. हिरण्योत्कृष्टता ४०. मंदरेंद्राभिषेक ४१. गुरुपूजोपलंभन

४२. यौवराज्य ४३. स्वराज्य ४४. चक्रलाभ ४५. दिग्विजय ४६. चक्राभिषेक ४७. साम्राज्य ४८. निष्क्रांति ४९. योगसन्मह ५०. आर्हन्त्य ५१. तद्विहार ५२. योगत्याग और ५३. अग्रनिर्वृत्ति।

परमागम में ये गर्भ से लेकर निर्वाणपर्यंत त्रेपन क्रियायें मानी गई हैं। महर्षियों ने इन क्रियाओं का वर्णन विस्तार से किया है किन्तु मैं यहाँ संक्षेप में ही उनके लक्षण कहूँगा—

१. आधान क्रिया—चतुर्थस्थान के द्वारा शुद्ध हुई पत्नी को आगे कर गर्भाधान के पहले अर्हंतदेव की पूजा को करके मंत्रपूर्वक जो संस्कार किया जाता है उसे आधान क्रिया कहते हैं। इस आधान क्रिया की पूजा में जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा के दाहिनी ओर तीन चक्र, बायीं ओर तीन छत्र और सामने तीन पवित्र अग्नि स्थापित करें। तीर्थंकर के निर्वाण के समय, गणधर देवों के निर्वाण के समय और सामान्य केवलियों के निर्वाण के समय जिन अग्नियों में होम किया गया था ऐसी तीन प्रकार की पवित्र अग्नियाँ सिद्धप्रतिमा की वेदी के समीप ही तैयार करना चाहिए। प्रथम ही अर्हंत देव की पूजा कर चुकने के बाद शेष बचे हुए पवित्र द्रव्य से पुत्र उत्पन्न होने की इच्छा कर मंत्रपूर्वक उन तीन अग्नियों में आहुति करनी चाहिए। वे आहुतियों के मंत्र, पीठिका मंत्र, जातिमंत्र आदि के भेद से सात प्रकार के हैं। अर्थात् हवनविधि में इन्हीं सात प्रकार के मंत्रों से आहुतियाँ दी जाती है।

इस प्रकार विधिवत् सिद्धपूजा, हवन आदि कराके पंडितगृहस्थाचार्य आधान क्रिया के समय निम्न मंत्रों को पढ़ें—

"सज्जातिभागीभव, सद्गृहिभागीभव, मुनीन्द्रभागीभव, सुरेंद्रभागीभव, परमराज्यभागीभव, आर्हत्यभागीभव, परमनिर्वाणभागीभव।"

इस प्रकार कही हुई गर्भाधान क्रिया को पहले विधिवत् करके फिर पति-पत्नी दोनों को विषयानुराग के बिना केवल संतान के लिए समागम करना चाहिए। इस तरह यह आधान क्रिया हुई।

२. प्रीतिक्रिया—गर्भाधान के बाद तीसरे माह में प्रीति[1] नाम की क्रिया होती है जिसे द्विज लोग कराते हैं। इस क्रिया में भी पहले के समान मंत्रपूर्वक जिनेंद्रदेव की पूजा की जाती है। दरवाजे पर तोरण बाँधना चाहिए तथा दो पूर्ण कलश स्थापित करना चाहिए। इसका विशेष मंत्र निम्न प्रकार है—"त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव।"

इस क्रिया के बाद इस दिन से लेकर गृहस्थों को प्रतिदिन अपने वैभव के अनुसार घंटा, नगाड़े आदि बजवाने चाहिए।

३. सुप्रीति क्रिया—यह क्रिया गर्भवती के पाँचवे माह में सिद्धपूजा करके हवन विधि की जाती है। इसके मंत्र ये हैं—

"अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव।"

४. धृतिक्रिया—गर्भ से सातवें माह में यह क्रिया की जाती है। इस क्रिया में भी पूर्ववत् दंपती से अर्हंत्-सिद्धपूजा और हवन करना चाहिए, पुनः निम्नलिखित मंत्रों को पढ़ना चाहिए—

"सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेंद्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव।"

---

१. गर्भ रहने के बाद तीसरे माह में।

५. मोदक्रिया—नवमें महीने के निकट रहने पर मोद नाम की क्रिया की जाती है। यह क्रिया पिछली क्रियाओं के समान पूजा, हवनपूर्वक होती है। इस क्रिया में उत्तम द्विज गर्भिणी के शरीर पर गात्रिकाबंध करावें। मंगलमय आभूषण आदि पहनाकर गर्भरक्षा के लिए कंकणसूत्र आदि बाँधे। इसके विशेष मंत्र है—

''सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेंद्रकल्याणभागी भव, मंदराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव।''

६. प्रियोद्भवक्रिया—प्रसूति होने पर प्रियोद्भव क्रिया की जाती है। इसका दूसरा नाम जातकर्म विधि भी है। यह क्रिया जिनेंद्र भगवान् का स्मरण कर की जाती है। इसमें क्रिया मंत्र, आदि विशेष कार्य बहुत से हैं इसलिए इसका पूर्ण ज्ञान मूलभूत उपासकाध्ययनांग से प्राप्त करना चाहिए।

इस प्रियोद्भव क्रिया में सिद्धपूजा करने के बाद निम्न मंत्रों को पढ़ें—''दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा।''

दूध और घी रूपी अमृत बालक की नाभि पर डालकर पुनः 'घातिंजयो भव' ऐसा मंत्र बोलकर नाभि का नाल काटना चाहिए। तत्पश्चात् 'हे जात! श्री देव्यः ते जातक्रियां कुर्वंतु' ऐसा मंत्र पढ़कर बालक के शरीर पर सुगंधित चूर्ण से उबटन लगवाकर पुनः सुगंधित गर्म जल से बालक को स्नान कराते समय 'त्वं मन्दराभिषेकार्हो भव', ऐसा मंत्र बोलें। स्नान के बाद 'त्वं चिरंजीव्याः', ऐसा मंत्र बोलकर उस

पर अक्षत डालकर आशीर्वाद देवें। अनंतर द्विज 'नश्यात् कर्ममलं कृत्स्नं' ऐसा मंत्र बोलकर औषधि मिश्रित घी बालक के मुख और नाक में जरा-सा डालें पुनः धाय आदि माता का दूध पिलाते समय बोलें—'विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूयाः।''

इस प्रकार प्रीतिपूर्वक दान देते हुए उत्सव करके विधिपूर्वक जातकर्म अथवा जन्मकाल की क्रिया समाप्त करें। उस बालक के जरायु पटल को नाभि की नाल के साथ-साथ किसी पवित्र जमीन को खोदकर मंत्र पढ़कर उसमें गाढ़ देवें।

'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुंधरे वसुंधरे।' इस मंत्र से मंत्रित कर उस भूमि में जल और अक्षत डालकर पाँच प्रकार के रत्नों के नीचे गर्भ का वह मल रख देना चाहिए और मंत्र बोलना चाहिए—'त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्राः चिरंजीविनो भूयासुः।' अर्थ यह है कि 'हे पृथ्वी! तेरे पुत्र-कुलपर्वतों के समान मेरे पुत्र भी चिरंजीवी होवें।' यह कहकर धान्य उत्पन्न होने योग्य खेत में जमीन पर वह मल डाल देना चाहिए।

अनंतर क्षीरवृक्ष की डालियों से पृथ्वी को सुशोभित कर प्रसूतिका-पुत्र की माता को बिठाकर मंत्रित किए हुए सुहाते गरम जल से स्नान कराना चाहिए। माता को स्नान कराने का मंत्र—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा।'

इसका अर्थ यह है कि हे सम्यग्दृष्टि, हे निकट भव्य, हे सबकी स्वामिनी, हे अत्यन्त पुण्य संचय करने वाली, जिनमाता! तू कल्याण करने वाली हो।

तीसरे दिन रात्रि के समय—

'अनंतज्ञानदर्शी भव।' यह मंत्र पढ़कर उस पुत्र को गोद में उठाकर ताराओं से सुशोभित आकाश दिखाना चाहिए और जितना बन सके उतना सब जीवों के अभय की घोषणा करनी चाहिए। उसी दिन पुण्याहवाचन के साथ-साथ शक्ति के अनुसार दान करना चाहिए। यह जन्मोत्सव विधि पूर्वाचार्यों ने कही है। उत्तम द्विज को आज भी यथायोग्य रीति से अनुष्ठान करना चाहिए।

७. नामकर्मक्रिया— जन्म के दिन से बारह दिन बाद, जो दिन माता-पिता और पुत्र के अनुकूल हो, सुख देने वाला हो, उस दिन नामकर्म की क्रिया की जाती है। इस क्रिया में अपनी शक्ति के अनुसार अर्हंत देव और ऋषियों की पूजा करनी चाहिए, द्विजों का भी यथायोग्य सत्कार करना चाहिए तथा जो वंश की वृद्धि करने वाला हो ऐसा कोई उत्तम नाम बालक का रखना चाहिए।

अथवा जिनसहस्रनाम—जिनेंद्रदेव के १००८ नामों में से घटपत्र विधि से कोई एक शुभ नाम रखना चाहिए।

घटपत्र विधि—भगवान् के १००८ नामों को १००८ कागज के टुकड़ों पर अष्टगंध से सुवर्ण अथवा अनार की कलम से लिखकर उनकी गोली बना लेवें और एक घड़े में भरकर उसे पीले वस्त्र तथा नारियल से ढक देवें। कागज के एक टुकड़े पर 'नाम' ऐसा शब्द लिखकर उसकी गोली बना लेवें तथा १००७ ऐसे कोरे कागजों की गोलियाँ बनाकर इन सबको एक-दूसरे घड़े में भर देवें। अनंतर किसी अबोध कन्या या बालक से दोनों घड़ों में से एक-एक गोली निकलवाता जावे। जिस नाम की गोली के साथ 'नाम' ऐसी लिखी हुई गोली निकले, वही नाम बालक का रख देंवे, यह घटपत्र विधि है।

इस क्रिया में भी सिद्ध पूजा आदि कर चुकने के बाद दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव। इन विशेष मंत्रों को पढ़कर आशीर्वाद देते हुए मस्तक पर अक्षत क्षेपण करना चाहिए।

८. बहिर्यान क्रिया— दो-तीन या तीन-चार माह के बाद किसी शुभ दिन तुरही आदि मांगलिक बाजों के साथ-साथ अपनी अनुकूलता के अनुसार बहिर्यान क्रिया करनी चाहिए। जिस दिन यह क्रिया की जावे उसी दिन से माता या धाय की गोद में बैठे हुए बालक का प्रसूतिगृह से बाहर ले जाना शास्त्र सम्मत है। उस क्रिया के करते समय बालक को भाई-बांधव आदि से पारितोषिक भेंट रूप में जो कुछ धन की प्राप्ति हो उसे इकट्ठा कर जब वह पुत्र पिता के धन का अधिकारी हो तब उसको सौंप देवें। इस क्रिया के मंत्र निम्न प्रकार हैं—

'उपनयनिष्क्रांतिभागी भव, वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, मंदराभिषेकनिष्क्रांतिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रांतिभागी भव।'

९. निषद्या क्रिया— बालक को योग्य आसन पर बिठाना निषद्या क्रिया है। इस आसन के समीप मंगलद्रव्य रखना चाहिए। इस क्रिया में भी सिद्धपूजा आदि सर्व विधि पहले के समान है। इस बालक की आगे-आगे दिव्य आसनों पर बैठने की योग्यता होती रहे, अतः यह क्रिया की जाती है। इसके विशेष मंत्र—

'दिव्य सिंहासनभागी भव, विजय सिंहासनभागी भव, परम सिंहासनभागी भव।'

१०. अन्नप्राशनक्रिया — जब क्रम से सात-आठ माह व्यतीत हो जावें तब अर्हंत भगवान् की पूजा आदि सर्वविधि करके बालक को अन्न खिलाना चाहिए। उसके विशेष मंत्र —

'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव।'

११. व्युष्टि क्रिया — एक वर्ष पूर्ण होने पर व्युष्टि नाम की क्रिया की जाती है। इस क्रिया का दूसरा नाम वर्षवर्धन है। इसमें भी पहले के समान दान, जिनेन्द्रदेव की पूजा करना होता है। इष्ट बन्धुओं को बुलाकर उन्हें भोजन भी कराना चाहिए। इसके विशेष मंत्र-

'उपनयनजन्मवर्षवर्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, मंदराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव।'

१२. केशवापक्रिया — इसे चौल क्रिया, क्षौर कर्म या मुंडनक्रिया भी कहते हैं। किसी शुभ दिन देव और गुरु की पूजा के साथ-साथ बालक के बाल उस्तरा से बनवाना केशवाप क्रिया है। प्रथम ही बालक के केशों को गंधोदक से गीला कर उन पर पूजा के बचे हुए शेष अक्षत रखें, फिर चोटी सहित या अपनी कुलपद्धति के अनुसार उसका मुंडन करना चाहिए। अनन्तर बालक को स्नान कराके, लेप लगाकर उत्तम वस्त्राभूषण पहनाना चाहिए, बाद में बालक से मुनियों को नमस्कार कराना चाहिए। पश्चात् सब भाई, बन्धु उसे आशीर्वाद देवें। इस क्रिया में पुण्याहमंगल किया जाता है। इसके विशेष मंत्र —

उपनयनमुंडभागी भव, निर्ग्रंथमुंडभागी भव, निष्क्रांति मुंडभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव।

१३. लिपिसंख्यान क्रिया — पाँचवे वर्ष में सर्वप्रथम अक्षरों का दर्शन कराने के लिए यह लिपिसंख्यान क्रिया की जाती है। इसमें भी अपने वैभव के अनुसार पूजा आदि करके अध्ययन कराने में कुशलव्रती गृहस्थ को ही उस बालक के अध्यापक पद पर नियुक्त करना चाहिए। इसके मंत्र ये हैं —

शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थपारगामी भव।'

१४. उपनीतिक्रिया — गर्भ से आठवें वर्ष में बालक की यह यज्ञोपवती क्रिया होती है। इस क्रिया में केशों का मुंडन, व्रतबंधन क्रियायें की जाती है। प्रथम ही जिनालय में बालक को ले जाकर बालक से पूजा कराकर उसे व्रत देकर उसके कमर में मूंज की रस्सी बाँधनी चाहिए। केशमुंडन में उसकी चोटी रखनी चाहिए, पुनः सफेद धोती-दुपट्टा पहनाकर यज्ञोपवीत पहनाना चाहिए। उस समय वह बालक ब्रह्मचारी कहलाता है अतः उसके आचरण के योग्य और भी नाम रखे जा सकते हैं। उस काल में राजपुत्र को छोड़कर सबके लिए भिक्षावृत्ति का विधान है। राजपुत्र भी अपने अंतःपुर में जाकर माता आदि से भिक्षा मांगे ऐसा कथन है क्योंकि उस समय भिक्षा लेने का ही नियोग है। भिक्षा में प्राप्त हुए का अग्रभाग अर्हंत देव को चढ़ाकर बाकी बचे हुए योग्य अन्न का वह बालक स्वयं भोजन करे। इस उपनीतिक्रिया के खास मंत्र ये हैं —

'परमनिस्तारकलिंगभागी भव, परमर्षिलिंगभागी भव, परमेन्द्रलिंगभागी भव, परमराज्यलिंगभागी भव, परमार्हन्त्यलिंग भागी भव, परमनिर्वाण-लिंगभागी भव।'

१५. व्रतचर्याक्रिया — अनंतर ब्रह्मचर्य व्रत के योग्य कमर, जांघ,

वक्ष:स्थल और सिर के चिन्ह को धारण करना चाहिए। यह ब्रह्मचारी बालक की व्रतचर्या क्रिया है। तीन लर की मूँज की रस्सी कमर में बाँधने से कटिचिन्ह होता है, यह मौजीबन्धन रत्नत्रय की विशुद्धि का अंग है और द्विज लोगों का एक चिन्ह है। अत्यन्त धुली हुई सफेद धोती पहनना यह उरुचिन्ह-जांघ का चिन्ह है। यह श्वेत धोती सूचित करती है कि अरहंत भगवान् का कुल पवित्र और विशाल है। इस धोती के भीतर लंगोटी भी पहनना चाहिए। वक्ष-स्थल का चिन्ह सात लर का गूँथा हुआ जनेऊ है, यह सात परम स्थानों का सूचक है और सिर चिन्ह-मस्तक का चिन्ह मुंडन है जो उसके मन-वचन-काय के मुंडन को बढ़ाने वाला है। इन चिन्हों से सहित वह बालक अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्य, अणुव्रत और परिग्रह परिमाण अणुव्रत भी ग्रहण करें। जब तक अध्ययन चले तब तक यह ब्रह्मचारी रहता हुआ वृक्ष की दातौन नहीं करे, पान नहीं खावे, न अन्जन लगावे और न हल्दी आदि उबटन लगावे। उसे प्रतिदिन केवल जल से शुद्ध स्नान करना चाहिए। खाट या पलंग पर नहीं सोवे, व्रतों को निर्मल रखने के लिए पृथ्वी पर अकेला ही सोवे। जब तक विद्याध्ययन समाप्त न हो तब तक ये व्रत हैं। अनन्तर वे व्रत रखे जो गृहस्थों के मूलगुण कहलाते हैं। विद्या के अध्ययन में सबसे पहले गुरु के मुख से श्रावकाचार पढ़ें, पुन: विनयपूर्वक अध्यात्मशास्त्र पढ़ें। उत्तम संस्कारों को प्रगट करने के लिए और विद्वत्ता प्राप्त करने के लिए व्याकरण आदि शब्दशास्त्र और न्याय आदि अर्थशास्त्र भी पढ़ें क्योंकि आचार विषयक ज्ञान होने के बाद इनके पढ़ने में कोई दोष नहीं है। अनंतर ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदि का भी अभ्यास करें।

१६. व्रतावतरण क्रिया—समस्त विद्याध्ययन कर लेने पर उस ब्रह्मचारी की व्रतावतरण क्रिया होती है। इसमें उसे साधारण व्रत तो पालन करने होते हैं परन्तु अध्ययन के समय जो विशेष व्रत ले रखे थे, उनका परित्याग करा दिया जाता है। मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुंबर फलों का त्याग तथा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँचों पापों का स्थूल रूप से त्याग ये व्रत तो जीवन पर्यंत रहने वाले व्रत हैं। इस क्रिया में भी बारह या सोलह वर्ष बाद अर्हंत पूजा, गुरु पूजा आदि करके गुरु की साक्षीपूर्वक कुछ व्रत छोड़ने होते हैं। पहले द्विजों का सत्कार कर फिर व्रतावतरण करना उचित है। जैसे पहले अंजन, उबटन, तांबूल सेवन आदि का त्याग किया था, धोती-दुपट्टे के सिवाय अन्य वस्त्रों का, फूलमाला आदि सुगंधित द्रव्यों का व खाट-पलंग पर सोने का त्याग था सो अब गुरु की आज्ञा से वस्त्र आभूषण, माला आदि ग्रहण करना उचित है।

इसके बाद क्षत्रिय हो तो शस्त्र धारण करें, वैश्य हो तो व्यापारवृत्ति से आजीविका करें और ब्राह्मण हो तो अध्ययन-अध्यापन में प्रवृत्त होवें। इस वातावरण में विवाह होने से पूर्व तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना रहता है।

इस क्रिया में और आगे की सर्व क्रियाओं में जिनपूजा, गुरु पूजा, हवनविधि आदि पूर्व में कथित विधि सामान्य रूप से सभी में करना चाहिए और विशेषमंत्र गुरु द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं उन्हीं से उनका ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं।

१७. वैवाहिकी क्रिया—गुरु की आज्ञा से विवाह के योग्य-सजातीय कन्या के साथ विवाह करना वैवाहिकी क्रिया है। इसमें द्विज

लोग सर्वप्रथम सिद्ध भगवान् की पूजा करके तीन अग्नियों, तीन हवनकुण्ड में स्थापित अग्नि को साक्षीपूर्वक इस क्रिया को सम्पन्न करें। वेदी में विराजमान सिद्ध भगवान् की प्रतिमा के सामने अग्निकुण्ड की वर-वधू प्रदक्षिणाएं देते हैं। इस क्रिया के बाद वर-वधू सात दिन तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करें। तीर्थभूमि में जाकर तीर्थवंदना करने के पश्चात् घर में प्रवेश करें और केवल संतान उत्पत्ति की इच्छा से ऋतुकाल में कामसेवन करें।

१८. वर्णलाभ क्रिया—विवाह के बाद गार्हस्थ धर्म का पालन करते हुए पुरुष अपने धर्म का उल्लंघन न करें इसलिए उसके वर्णलाभ क्रिया होती है। यद्यपि उसका विवाह हो चुका है फिर भी जब तक वह पिता के घर रहता है तब तक अस्वतंत्र ही है अतः उसको स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए यह क्रिया होती है। इस क्रिया में पिता उसे उसके योग्य धन-धान्य सम्पदायें देकर और अलग मकान देकर स्वतंत्र आजीविका करने की आज्ञा देते हैं, इसी का नाम वर्णलाभ है। इस क्रिया में भी पहले के समान सिद्धपूजन आदि सर्वक्रियाएँ करनी होती हैं। इसके बाद ही पिता अन्य मुख्यजनों के सामने धनादि देकर व मकान देकर कहते हैं—हे पुत्र! तुम्हें पृथक् इस घर में रहते हुए, आजीविका करते हुए, दान-पूजा आदि समस्त गृहस्थधर्म का पालन करना होगा। जिस प्रकार अपने पिता के द्वारा दिये गये धनादि से मैंने स्वतंत्रता प्राप्त कर यश, धन और धर्म का अर्जन किया है वैसे ही तुम भी करो। पिता की आज्ञा से वह पुत्र भी सदाचार के साथ-साथ सर्व आवश्यक क्रियाओं को करता रहे, यही उसका कर्त्तव्य है।

१९. कुलचर्या क्रिया—पूजा, दत्ति-दान तथा वार्ताआजीविका आदि करना ही कुलचर्या है। निर्दोष रूप से धन कमाते हुए आर्य-पुरुषों द्वारा करने योग्य षट् क्रियाएं करते रहना ही गृहस्थों की कुलचर्या क्रिया है और यही गृहस्थों का कुलधर्म है।

२०. गृहीशिता क्रिया—कुलचर्या को करते हुए धर्म में दृढ़ता रखते हुए गृहस्थाचार्य रूप से गृहीशिता-गृहस्थों का स्वामी बने। अपने आप में गृहीशिता स्थापित कर दूसरे गृहस्थों में न पायी जाने वाली ऐसी शुभवृत्ति, क्रिया, मंत्र, विवाह आदि आगे कही जाने वाली भी क्रियाओं में निष्णात् होकर शास्त्रज्ञान और चारित्र से अपने आपको विशिष्ट बनाकर गृहस्थों का ईश-स्वामी बने। उस समय वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह इत्यादि कहकर लोगों को उसका सत्कार करना चाहिए। इस क्रिया में भी प्रारंभ में सिद्ध पूजा आदि विधिपूर्वक करना चाहिए।

२१. प्रशांति क्रिया—वह गृहस्थाचार्य अपना भार संभालने में समर्थ योग्य पुत्र को अपनी गृहस्थी का भार सौंप दें और आप स्वयं उत्तम शांति का आश्रय लेवे। विषयों में आसक्त न होकर नित्य स्वाध्याय में तत्पर रहते हुए नाना प्रकार के उपवास आदि करते हुए शांतवृत्ति धारण करना प्रशांति क्रिया है।

२२. गृहत्याग क्रिया—गृहस्थाश्रम से अपने आपको विरक्त करता हुआ वह पुरुष जब गृहत्याग करने के लिए उद्यत होता है तब यह क्रिया होती है। इस क्रिया में सर्वप्रथम सिद्ध भगवान् की पूजा आदि करके अपने समस्त इष्ट जनों को बुलाकर पूछना चाहिए, फिर उन सबकी साक्षी में पुत्रों के लिए सर्वसम्पत्ति सौंप कर बड़े पुत्र से कहना चाहिए कि—हे पुत्र! हमारे पीछे यह कुलक्रम तुम्हें संभालना है। मैंने जो अपने धन के तीन भाग किये हैं उनका तुम्हें इस प्रकार विनियोग करना

है कि उस धन का प्रथम एक भाग तो धर्म कार्य में खर्च करना है, दूसरा भाग अपने गृहखर्च के लिए रखना है और तीसरा भाग अपने भाइयों में बाँटना है। उसमें से पुत्रों के समान पुत्रियों के लिए भी बराबर भाग देना है। हे पुत्र! तू कुल में बड़ा है अत: मेरी सर्वसन्तान का पालन कर, तू शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मंत्र और विधि को जानने वाला है इसलिए आलस्य रहित होकर देव-गुरुओं की पूजा करता हुआ अपने कुलधर्म को वृद्धिंगत करता रहे। इस प्रकार ज्येष्ठ पुत्र को उपदेश देकर वह निराकुल होकर दीक्षा ग्रहण करने के लिए अपना घर छोड़ देवे।

२३. दीक्षाद्य क्रिया—दीक्षा के सन्मुख हुआ वह सम्यग्दृष्टि, प्रशात पुरुष दीक्षा से पूर्व एक धोती-दुपट्टा धारण करें और गुरु के पास जाकर क्षुल्लक आदि गृहत्यागी बन जावे। यह दीक्षाद्य क्रिया है। इसमें भी सिद्धपूजा, गुरुपूजा, हवन विधि आदि करना होता है।

२४. जिनरूपता क्रिया— गुरु के पास पहुँचकर आचार्य के कर-कमलों से जिनरूप-नग्न दिगम्बर मुनि की दीक्षा लेना जिनरूपता क्रिया है। इस क्रिया में सर्वपरिग्रह त्यागकर शुभमुहूर्त में जिनेन्द्र देव का रूप धारण किया जाता है। यह सबके लिए सुलभ नहीं है, धीर-वीर पुरुष ही इसे धारण करते हैं। इसमें भी यथायोग्य पूजा भक्ति आदि क्रियायें की जाती हैं।

२५. मौनाध्ययन वृत्तित्व क्रिया—दीक्षा लेकर उपवासपूर्वक वह दिन व्यतीत कर पारणा करके अध्ययन काल तक मौन रखना मौनाध्ययनवृत्तित्व क्रिया है। यह साधु अन्य लोगों से चर्चा—वार्ता आदि रूप में न बोलते हुए मौन धारण कर, विनय से युक्त, मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक गुरु के पास में प्रारंभ से लेकर समस्त

शास्त्रों का अध्ययन करें क्योंकि अन्य वार्तालाप से हटकर मौनपूर्वक किया गया शास्त्राभ्यास इस लोक में साधु की योग्यता को बढ़ाता है और परलोक में उच्चगति प्रदान करता है।

२६. तीर्थकृद्भावना क्रिया—समस्त आचार शास्त्रादि ग्रंथों का अध्ययन करके श्रुतज्ञान का विस्तार प्राप्त करने वाला साधु-विशुद्ध आचरण रखता हुआ तीर्थंकर प्रकृत्ति के योग्य सोलह भावनाओं का अभ्यास करें। इन दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओं द्वारा तीर्थंकर-प्रकृति बंध के लिए योग्यता प्राप्त करना यह तीर्थकृद्भावना क्रिया है।

२७. गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया—समस्त विद्याओं के ज्ञाता मुनि जो कि पाँच इन्द्रिय और मन को जीतने वाले हैं, ऐसे योग्य और बड़े शिष्य को जब गुरु अपना स्थान सौंप देते हैं तब उनके यह गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया होती है।

२८. गणोपग्रहण क्रिया—जो सदाचार में निपुण साधु समस्त मुनिसंघ के पोषण करने में तत्पर रहते हैं। ये नवीन आचार्य मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इस चतुर्विध संघ को समीचीन धर्म मार्ग में लगाते हुए अच्छी तरह संघ का पोषण करते हैं। ये शास्त्र अध्ययन के इच्छुक श्रावकों को मुनि दीक्षा देते हैं और धर्मात्मा जनों को धर्म का प्रतिपादन करते हैं। सदाचारियों के प्रति अनुग्रह रखते हुए दुराचारी जनों का निग्रह कराते हैं तथा अपने आश्रित शिष्यों के अपराधरूपी मल को प्रायश्चित्त देकर शोधन करते हैं। इस प्रकार वे अपने आश्रितगण और संघ की रक्षा करते हैं उनके यह गणोपग्रहण क्रिया होती है।

२९. स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया—इस प्रकार संघ का पालन करते हुए वे आचार्य अपने गुरु का स्थान प्राप्त कर लेते हैं। जिसने समस्त

विद्यायें पढ़ ली हैं और उन विद्याओं के जानकार उत्तम-उत्तम मुनि जिनका आदर करते हैं ऐसे योग्य शिष्य को बुलाकर उसके लिए अपना भार सौंप देवें। गुरु की अनुमति से वह शिष्य भी गुरु के स्थान पर अधिष्ठित होता हुआ उनके समस्त आचरणों का स्वयं पालन करे और समस्त संघ को पालन करावे। यह पहले आचार्य के लिए स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया है।

३०. नि:संगत्व आत्मभावना क्रिया— इस प्रकार सुयोग्य शिष्य पर समस्त भार सौंपकर जो किसी काल में दु:खी नहीं होते हैं ऐसे साधु अकेले विहार करते हुए 'मेरा आत्मा सब प्रकार के परिग्रह से रहित है।' ऐसी भावना करते हैं। इस तरह जो समस्त परिग्रह से रहित, एकल-विहारी, महातपस्वी, साधु केवल अपने आत्मा का ही संस्कार करना चाहते हैं, इसके सिवाय अन्य किसी साधु या गृहस्थ के सुधार की चिंता नहीं करते हैं, वे शिष्य और पुस्तक आदि सब पदार्थों से राग छोड़कर निर्ममत्व भावना में एकाग्र बुद्धि लगाकर अपने चारित्र की शुद्धि करते हैं। उनके यह नि:संगत्व भावना होती है।

३१. योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रिया—अपने आत्मा का संस्कार कर जो सल्लेखना ग्रहण करने के लिए प्रयत्नशील हैं और सब प्रकार से आत्मा की शुद्धि कर ली है ऐसे साधु योगनिर्वाण क्रिया को प्राप्त करते हैं। योग नाम ध्यान का है उसके लिए जो संवेगपूर्वक प्रयत्न किया जाता है उस परम तप का योग निर्वाणसंप्राप्ति नाम है। प्रथम ही शरीर को शुद्ध कर सल्लेखना के योग्य आचरण करे फिर रागादिदोष और शरीर दोनों को कृश करें। इसमें जीवित रहने की आशा और मरने की इच्छा छोड़कर संन्यास धारण करने के पहले जो भावना की जाती है वह योगनिर्वाण

है। जो पदार्थ आत्मा के नहीं है उनमें 'यह मेरे हैं' इस संकल्प का त्यागकर 'न मैं शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ, और न इन तीनों का कारण हूँ, इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिंतवन करे। 'इस संसार में मैं अकेला हूँ, न मेरा कोई है और न मैं भी किसी का हूँ,' इस प्रकार एकत्व भावना का चिंतवन करें। जो नित्य है, अनन्त सुख का स्थान है, ऐसे मोक्ष में अपनी वृद्धि लगाकर जो योगी योगध्यान की सिद्धि के लिए योग-साधना करते हैं उनके यह योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रिया होती है।

३२. योगनिर्वाणसाधन क्रिया—समस्त आहार और शरीर को छोड़ने में उद्यत हुए जो योगी मन-वचन-काय को अपनी आत्मा से भिन्न अनुभव करते हुए अपने मन को पंचपरमेष्ठी के चरणों में लगाते हैं और इस प्रकार जीवन के अंत में योगनिर्वाण साधन को अपने अधीन कर लेते हैं। योग नाम समाधि का है। इस समाधि के द्वारा चित्त को आनन्द होता है, जिसे निर्वाण कहते हैं। चूँकि यह योगनिर्वाण इष्ट पदार्थों का साधन है इसलिए इसे योगनिर्वाणसाधन कहते हैं। यह संल्लेखना में स्थित साधु के अंत समय में होती है।

३३. इन्द्रोपपादक्रिया—ये योगी मन-वचन-काय को स्थिर कर प्राणों को त्याग कर पुण्य के प्रभाव से इन्द्रोपपाद क्रिया को प्राप्त कर लेते हैं, तब देवों के स्वामी इन्द्र कहलाते हैं। यह इन्द्रोपपाद क्रिया अर्हत्प्रणीत मोक्षमार्ग का सेवन करने वाले जीवों के ही होती है। इन्द्रों में जन्म लेने पर वह इन्द्र उसी उपपाद शय्या पर क्षण भर में पूर्ण यौवन से सम्पन्न हो जाता है। दिव्य वैक्रियक शरीर प्राप्त कर अणिमा, महिमा आदि आठ असाधारण गुणों से सहित हो जाता है। साथ-साथ उत्पन्न हुए दिव्य वस्त्र, माला तथा मणिमय आभूषणों से सुशोभित, दिव्य

माहात्म्य से उत्पन्न हुए उत्कृष्ट प्रभाव को धारण करता हुआ वह इन्द्र अवधिज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा जान लेता है कि मैं इन्द्रपद में उत्पन्न हुआ हूँ। यह इन्द्रोपपाद क्रिया है।

३४. इन्द्राभिषेक क्रिया—अनंतर अंतर्मुहूर्त-४८ मिनट के बाद ही पर्याप्तक-पूर्ण यौवन सम्पन्न इन्द्र के उत्पन्न होने पर उत्तम देव लोग उस इन्द्र का इन्द्रपद पर अभिषेक करते हैं। दिव्य संगीत, दिव्य बाजे, दिव्य मंगलगीत और अप्सराओं के सुन्दर नृत्य होते हैं। इसके पश्चात् वह इन्द्र अपने साम्राज्य के मुख्य चिन्ह स्वरूप देदीप्यमान मुकुट को धारण करता है। हर्ष से विभोर हो करोड़ों देव उसकी जय-जयकार करते हैं। इस प्रकार उत्तम वस्त्राभूषणों से विभूषित वह इन्द्र इन्द्रपद पर आरूढ़ हो अत्यन्त सन्मान और शोभा को प्राप्त होता है। यह इन्द्राभिषेक क्रिया है।

३५. विधिदान क्रिया—इसके बाद वह इन्द्र उत्तम-उत्तम देवों को उनके पद पर नियुक्त करता है। यह विधिदान क्रिया है।

३६. इन्द्रसुखोदय क्रिया— अपने-अपने विमानों की ऋद्धि देकर सर्वदेवों को संतुष्ट करने के बाद उन देवों से घिरा हुआ वह इन्द्र चिरकाल तक देवों के द्वारा किये गये अनेक वैभव सुखों का अनुभव करता है, यह इन्द्रसुखोदय क्रिया है।

इस प्रकार इन्द्रोपपाद, इन्द्राभिषेक, विधिदान और सुखोदय नाम की ये चार क्रियायें इन्द्र संबंधी है।

३७. इन्द्रपद त्यागक्रिया—इन्द्र जब अपनी आयु की स्थिति थोड़ी रहने पर अपना स्वर्ग से च्युत होना जान लेता है तब वह देवों को इस प्रकार का उपदेश देता है कि 'भो देवों! मैंने चिरकाल तक आप सबका पालन किया है, कितने ही देवों को मैंने पिता के समान माना है,

कितने ही देवों को पुत्रवत् समझा है, कितने ही को पुरोहित, मंत्री और अमात्य के स्थान पर नियुक्त किया है, कितने ही को मैंने मित्र और पीठमर्द के समान देखा है, कितने ही को अपने प्राणों के समान मानकर उन्हें अपनी रक्षा के लिए नियुक्त किया है, कितने ही को सेनापति के स्थान पर, कितने ही को परिवार-देव समझकर व कितने ही को सामान्य प्रजाजन के समान स्वीकार कर, कितने को सेवक व कितने को परिजन माना है। कितनी ही देवियों को वल्लभिका, कितनी को महादेवी और कितनी ही देवियों को अपनी सामान्य पत्नी के रूप में देखा है। इस प्रकार मैंने आप लोगों पर असाधारण प्रेम दिखलाया है और आप लोगों ने भी मुझ पर असाधारण प्रेम धारण किया है। अब इस समय स्वर्ग के भोगों से मेरी इच्छा मंद हो गई है और निश्चय ही मनुष्य लोक की लक्ष्मी मेरे निकट आ रही है, इसलिए आप सबकी साक्षीपूर्वक मैं स्वर्ग का यह समस्त साम्राज्य छोड़ रहा हूँ और मेरे पीछे मेरे समान जो दूसरा इन्द्र होने वाला है मैं उसके लिए यह समस्त सामग्री समर्पित करता हूँ। इस प्रकार उन सब देव-देवियों में अपनी उदासीनता अनुभव करता हुआ वह इन्द्र सबको शिक्षा देकर धीर-वीर बुद्धि का धारक होता हुआ, इन्द्र पद का त्याग होने पर दु:खी नहीं होता है। यह बहुत आश्चर्य की बात ही है कि धीर-वीर पुरुष वैसे इन्द्र के वैभव को बिना किसी कष्ट के छोड़ देते हैं। इस तरह स्वर्ग के भोगों का त्याग करना ही इन्द्रपदत्याग क्रिया है।

३८. इन्द्रावतार क्रिया—जो इन्द्र आयु के अंत में अरहंत देव का पूजन कर स्वर्ग से अवतार लेना चाहता है, उसका यह अवतार क्रिया होती है। "मैं मनुष्य पर्याय में जन्म लेकर बहुत शीघ्र ही मोक्ष पद प्राप्त करना चाहता हूँ", यह विचार कर वह इन्द्र अपना चित्त सिद्ध भगवान्

को व उनकी प्रतिमाओं को नमस्कार करने में लगाता है। इससे पूर्व ही यहाँ माता सोलह स्वप्न देखती है।अनंतर वहाँ से च्युत हो माता के गर्भ में आता है, उसकी यह स्वर्गावतार क्रिया कहलाती है।

३९. हिरण्योत्कृष्टजन्मता क्रिया—गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही माता महादेवी की श्री ह्री आदि देवियाँ सेवा करते हैं और माता का गर्भशोधन करती हैं। तभी से कुबेर स्वर्ग से आकर यहाँ माता के आंगन में रत्नों की वर्षा करने लगता है, वह रत्न वर्षा ऐसी मालूम पड़ती है मानो स्वर्ग की सम्पदा ही आनन्द से भगवान् के साथ-साथ पृथ्वी तल पर आ रही हो, गुह्यक जाति के देवगण कल्पवृक्षों के सुगंधित पुष्पों की वर्षा करते हैं, श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की देवियाँ स्वयं माता की सेवा में तत्पर हो जाती हैं उस समय पुण्य के निवासभूत किसी पवित्र राजमंदिर में वे हिरण्यगर्भ भगवान् हिरण्योत्कृष्ट जन्म धारण करते हैं। ये भगवान् गर्भ में स्थित रहते हुए भी मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञान को धारण करने वाले होते हैं, इनके हिरण्यसुवर्ण की वर्षा से जन्म की उत्कृष्टता सूचित होने के कारण हिरण्योत्कृष्ट जन्म इस सार्थक नाम की क्रिया को प्राप्त करते हैं।

४०. मदराभिषेक क्रिया—उस समय वह गर्भवती माता विश्वेश्वरी, जगन्माता, महादेवी, महासती, पूज्या और सुमंगला इत्यादि नामों को धारण करती हैं। पन्द्रह माह तक रत्नों की वर्षा और श्री आदि द्वारा माता की सेवा आदि होती रहती है पुन: सर्वोच्च शुभ मुहूर्त में पुत्र रत्न का जन्म होते ही इन्द्रों के आसन कंपायमान होने से सौधर्म इन्द्र महावैभव के साथ आकर जन्मजात जिन बालक को मेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के पवित्र जल से उनका जन्माभिषेक करते हैं, यह क्रिया

अत्यन्त प्रसिद्ध है और किसी महान् पुण्य पुरुष तीर्थंकर पद के धारक होने वाले बालक की होती है, यह मन्दराभिषेक क्रिया है।

४१. गुरुपूजन क्रिया—वे तीर्थंकर स्वतंत्र और स्वयंभू होने से किसी के शिष्य हुए बिना सबके गुरु कहलाने लगते हैं, उस समय इन्द्र लोग आकर कहते हैं—हे देव! आप किसी के द्वारा शिक्षित न होकर भी सबके गुरु हैं और सर्वमान्य हैं, सर्वविद्याओं के स्वामी हैं तथा सबके रक्षक तीनों लोकों के गुरु हैं, ऐसा कहकर पूजा करते हैं सो यह गुरुपूजन क्रिया है।

४२. यौवराज्य क्रिया—कुमारकाल आने पर उन्हें युवराजपद की प्राप्ति होती है। इस समय भी इन्द्र आदि देवगण आकर भगवान् को राज्यपट्ट बाँधते हैं और अभिषेक किया जाता है, सो यह यौवराज्य क्रिया है।

४३. स्वराज्य क्रिया—अनंतर पिता की इच्छा देखकर इन्द्रगण आकर सम्राट के पद पर राज्याभिषेक करते हैं, उस समय दूसरे के शासन से रहित, समुद्र पर्यंत इस पृथ्वी का शासन करते हैं, यह स्वराज्य क्रिया है।

४४. चक्रलाभक्रिया—इसके बाद निधियों और रत्नों की प्राप्ति होने पर उन्हें चक्ररत्न की प्राप्ति होती है, उस समय समस्त प्रजा उन्हें राजाधिराज मानकर उनकी अभिषेक सहित पूजा करती है, यह चक्रलाभ क्रिया है।

४५. दिशांजय क्रिया—चक्ररत्न को आगे कर समस्त पृथ्वी को जीतने वाले उन भगवान् को जो दिशाओं के जीतने के लिए उद्योग करना है, वह दिशांजय क्रिया है।

४६. चक्राभिषेक क्रिया—जब भगवान् दिग्विजयपूर्ण कर अपने

नगर में प्रवेश करने लगते हैं, तब उनके चक्राभिषेक नाम की क्रिया होती है। भगवान् चक्रवर्ती पद से विभूषित हुए चक्ररत्न को आगे कर राजभवन में प्रवेश करते हैं, जो कि बहुमूल्य वैभव से सहित होता है और स्वर्ग के विमानों की भी हँसी करता है। वहाँ पर वे मनोहर आनंद मण्डप में क्षणभर विराजमान होते हैं, उस समय उन पर चंवर ढुराये जाते हैं, जिससे वे ऐसे जान पड़ते हैं, मानो निर्झरनों सहित सुमेरुपर्वत ही हो, उस समय वे चक्रवर्ती निधियों और रत्नों की पूजा कर चक्र द्वारा दिग्विजय पूर्ण करने का बड़ा भारी उत्सव करते हैं, किमिच्छक दान देते हैं और माननीय राजाओं का सम्मान करते हैं।

तदनंतर तुरही आदि मांगलिक बाजों के गंभीर शब्दों के साथ-साथ बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजागण व अनेक राजा लोग उनका अभिषेक करते हैं, उन चक्रवर्ती के मस्तक पर प्रसिद्ध उत्तम कुल में उत्पन्न हुए मुख्य चार राजा मुकुट रखते हैं पुनः उन्हें चारों ओर से राजा लोग नमस्कार करते हैं। मुकुट, कर्ण-कुण्डल, मोतियों के हार, कंकण आदि आभूषणों से शोभित वे यज्ञोपवीत से अपने शरीर की और गुणों की उच्चता को प्रगट करते हैं, उस समय अन्य राजा लोग भगवान् की स्तुति करते हैं। हे चक्रवर्तिन् ! आपने समस्त संसार जीत लिया है, आप दिशाओं को जीतने वाले हैं, दिव्यमूर्ति हैं इत्यादि! मुख्य नगरनिवासी तथा मंत्री आदि पुरुष उनके चरणों का अभिषेक कर उनका चरणोदक लेकर अपने-अपने मस्तक, ललाट और नेत्रों में लगाते हैं। श्री आदि देवियाँ, गंगा-सिंधु आदि देवियाँ और विश्वेश्वरा आदि देवियाँ अपने-अपने नियोगों के अनुसार आकर चक्रवर्ती का अभिषेक कर उनकी उपासना करती हैं, यह चक्राभिषेक क्रिया है।

४७. साम्राज्य क्रिया—दूसरे दिन प्रातःकाल के समान पवित्र, मांगलिक आभूषण धारण कर भगवान् राजाओं से घिरे हुए सभा के बीच में राज्य सिंहासन पर विराजमान होते हैं, उस समय उन पर चंवर ढुराये जाते हैं। वे भगवान् मानो धृति, कांति, शांति, दीप्ति, ओज और निर्मलता को उत्पन्न करने वाली पृथ्वी आदि देवताओं के अंशों से ही बने हैं पुनः उन देवताओं को समाधानपूर्वक निरंतर प्रजा के उपकार में लगाते हैं तथा आदर-सत्कार, दान और विश्वास आदि से मंत्री आदि प्रमुख कार्यकर्ताओं को आनन्दित करते हैं। अनंतर नमस्कार करके यहाँ बैठे हुए राजाओं को इस प्रकार शिक्षा देते हैं कि—

"हे राजाओं! तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करो, यदि अन्याय में प्रवृत्ति रखोगे, तो तुम्हारी वृत्ति का लोप हो जायेगा। न्याय दो प्रकार का है—दुष्टों का निग्रह करना और शिष्ट पुरुषों का पालन करना, यही क्षत्रियों का सनातन धर्म है, तुम राजाओं को इसकी रक्षा अच्छी तरह करनी चाहिए। दिव्य अस्त्रों के अधिष्ठाता देव भी विधिपूर्वक आराधना करने योग्य हैं क्योंकि इनके प्रसन्न होने पर युद्ध में विजय अवश्य होती है, जो राजा इस राजवृत्ति का पालन करता है वह धर्मविजयी होकर अपनी आत्मा को जीत लेता है तथा न्यायपूर्वक आजीविका करते हुए, ऐसा क्षत्रिय ही पृथ्वी को जीत सकता है। वह इस भव में यश और वैभव के साथ-साथ परलोक में स्वर्गों के सुख को प्राप्त कर लेता है पश्चात् तीनों लोकों को जीतकर मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।"

इस प्रकार वे चक्रवर्ती योग और क्षेम का राजाओं को उपदेश देकर स्वयं उसका पालन करते हैं, यही उनकी साम्राज्य क्रिया है।

४८. निष्क्रांति क्रिया—बहुत दिनों तक राजा-प्रजा का पालन

कर किसी समय उन्हें भेदविज्ञान उत्पन्न होने पर वे दीक्षा के लिए उद्यत होते हैं। भगवान् को वैराग्य उत्पन्न हुआ है, ऐसा जानकर लौकांतिक देव आकर उनकी अतिशय रूप से प्रशंसा करते हैं। वे भगवान् समस्त राजाओं की साक्षीपूर्वक अपने बड़े पुत्र को साम्राज्य का भार सौंपकर शिक्षा देते हैं—'हे पुत्र! तुझे प्रजापालन करके पक्षपात रहित न्यायरूप प्रवृत्ति करनी चाहिए। क्योंकि न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा कामधेनु गाय के समान मनोरथों को पूर्ण करने वाली मानी गई है। इत्यादि रूप से पुत्र को शिक्षा देकर माता-पिता आदि से पूछकर घर से वन की ओर जाना चाहते हैं।

तभी सौधर्म इन्द्र असंख्य वैभव के साथ वहाँ आकर भगवान् की पूजा कर उन्हें स्वर्ग से लायी हुई दिव्य पालकी में बिठाते हैं। प्रथम ही मुख्य-मुख्य राजा लोग उस पालकी को उठाकर कंधे पर रखकर कुछ दूर ले जाते हैं फिर भक्ति से भरे देवगण उस पालकी को अपने कंधों पर उठाकर जहाँ भगवान् दीक्षा लेंगे उस वन तक ले जाते हैं, उस समय घर से निकलते समय भगवान् ने जिसे राजा बनाया है, उस पुत्र को आगे कर सुर-असुर गण तथा समस्त राजा लोग भगवान् के साथ-साथ चलते हैं। निधि और रत्नों का समूह उनके पीछे-पीछे चलने लगता है और ध्वजाएँ फहराते हुए उनकी विशाल सेना अपनी विशेष रचना बनाकर धीरे-धीरे उनके पीछे चलने लगती हैं। देवगण मांगलिक बाजे बजाते हैं, अप्सरायें नृत्य करती हैं, किन्नरी देवियाँ मंगल गीत गाती हैं, उस समय भगवान् किसी पवित्र वन में अपने चित्त के समान विस्तृत शिला पर विराजमान होकर दीक्षा लेते हैं, तब इन्द्र लोग उत्कृष्ट सामग्री के द्वारा भगवान् की पूजा करते हैं। इस दीक्षा क्रिया में केशलोंच करना

आदि क्रियायें होती हैं। इन्द्रगण उन केशों को ले जाकर क्षीर समुद्र में क्षेपण करते हैं, यह निष्क्रांति क्रिया है।

४९. योगसंमह क्रिया—जब वे भगवान् बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह को छोड़कर अत्यंत कठिन तथा सर्वश्रेष्ठ जिनकल्प नाम के तपोयोग को धारण कर क्षपक श्रेणी में आरोहण करके शुक्लध्यानरूपी अग्नि से घ्रातिकर्मरूपी सघन वन को जला देते हैं, तब उनके केवलज्ञान नाम की उत्कृष्ट 'ज्ञानज्योति' प्रगट हो जाती है, जिससे वे लोग-अलोक को एक साथ एक समय में देखने-जानने वाले हो जाते हैं। इस प्रकार कृतकृत्य हुए केवली भगवान् को यह योगसंमह क्रिया होती है। ज्ञान और ध्यान के संयोग को योग कहते हैं, उस योग से जो अतिशय तेज उत्पन्न होता है, वही योगसम्मह क्रिया है।

५०. आर्हन्त्य क्रिया—केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद इन्द्रों का आगमन, कुबेर द्वारा समवसरण की रचना, प्रातिहार्य आदि बाह्य विभूति प्रगट होती हैं। इस प्रकार आठ प्रातिहार्य, बारह दिव्य सभा, स्तूप, मकानों की पंक्तियाँ, कोट का घेरा और पताकाओं की पंक्ति आदि अद्भुत विभूति को धारण करने वाले उन भगवान् को यह आर्हन्त्य क्रिया होती है। ये भगवान् दिव्य ध्वनि से असंख्य भव्य जीवों को सात सौ अठारह भाषाओं में सम्बोधित करते हैं।

५१. विहार क्रिया—धर्मचक्र को आगे कर जो भगवान् का विहार होता है, यह क्रिया प्रसिद्ध है। इसमें भगवान् के चरण-कमल के तले स्वर्णमय कमलों की रचना होती है, यही श्री विहार क्रिया है।

५२. योगत्याग क्रिया—अपने जीवन के कुछ दिन पूर्व जब भगवान् योगत्याग करने के लिए ध्यान में लीन हो जाते हैं, तब समवसरण

विघटित हो जाता है। जैसे भगवान् आदिनाथ ने चौदह दिन का योग निरोध किया था। दण्ड, कपाट, प्रतर तव लोकपूरण समुद्घात भी किन्हीं-किन्हीं केवली के होते हैं। यह केवली समुद्घात नाम की क्रिया भी इसी में शामिल है, यह योगनिरोध होना ही योगत्याग क्रिया है।

५३. अग्रनिर्वृति क्रिया— जिनके समस्त योगों का निरोध हो चुका है वे सर्व जिनों के स्वामी शील के अठारह भेदों को पूर्ण कर अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर देते हैं, उन भगवान् के स्वभाव से ही उर्ध्वगति होती है। वे एक समय में यहाँ से सात राजु ऊपर जाकर सिद्ध शिला के ऊपर लोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाते हैं और अनंतानंत काल तक वहीं रहते हैं, उनका पुनः अवतार नहीं होता है। ये भगवान् सिद्ध परमात्मा, नित्य निरंजन, निराकार कहलाते हैं, यही अग्रनिर्वृत्ति नाम की त्रेपनवी क्रिया है।

इस प्रकार गर्भ से लेकर निर्वाण पर्यंत सब मिलाकर ये त्रेपन क्रियायें हैं। भव्य पुरुषों को आदरपूर्वक इनका पालन करना चाहिए। खास करके आप द्विजों को इन क्रियाओं का स्वयं के परिवार के लिए तथा अन्य गृहस्थों के लिए करना और कराना चाहिए।

इस तरह पुण्यवान् भरत चक्रवर्ती ने उन द्विजों को अपने धर्म में स्थापित करते हुए, इन त्रेपन गर्भान्वय क्रियाओं का वर्णन किया है। वास्तव में जो भव्य जीव इन क्रियाओं को सुनकर जिनेन्द्रदेव के शासन में अपनी बुद्धि लगाते हैं और योग्य सामग्री प्राप्त कर दूसरों से आचरण कराते हुए इनका आचरण करते हैं, वे एक नएक दिन पूर्णज्ञानी होकर लोकों के चूड़ामणिपने को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् लोक के अग्रभाग में विराजमान होकर सदाकाल तक अनंत सुख के अनुभव करने वाले हो जाते हैं।

(२७)

श्री भरत महाराज पुनः उन द्विजों को समझाते हुए कहते हैं— "हे द्विजों! मैंने आप लोगों को गर्भान्वय क्रियाओं के त्रेपन भेदों का अति संक्षिप्त उपदेश दिया है। अब अवतार से लेकर निर्वाणपर्यंत दीक्षान्वय के अड़तालीस भेदों को कहता हूँ, सो ध्यानपूर्वक सुनो— १. अवतार २. वृत्तलाभ ३. स्थानलाभ ४. गणग्रह ५. पूजाराध्य ६. पुण्ययज्ञ ७. दृढ़चर्या ८. उपयोगिता ९. उपनीति १०. व्रतचर्या ११. व्रतावतरण १२. विवाह १३. वर्णलाभ १४. कुलचर्या १५. गृहीशिता १६. प्रशांति १७. गृहत्याग १८. दीक्षाद्य १९. जिनरूपता २०. मौनाध्यन वृत्तित्व २१. तीर्थकृत भावना २२. गुरुस्थानाभ्युदय २३. गणोपग्रहण २४. स्वगुरुस्थानसंक्रांति २५. निःसंगआत्म भावना २६. योगनिर्वाण संप्राप्ति २७. योगनिर्वाण साधन २८. इन्द्रोपपाद २९. अभिषेक ३०. विधिदान ३१. सुखोदय ३२. इन्द्रत्याग ३३. अवतार ३४. हिरण्योत्कृष्ट जन्मता ३५. मंदरेन्द्राभिषेक ३६. गुरुपूजोपलंभन ३७. यौवराज्य ३८. स्वराज्य ३९. चक्रलाभ ४०. दिग्विजय ४१. चक्राभिषेक ४२. साम्राज्य ४३. निष्क्रांति ४४. योग सम्मह ४५. आर्हन्त्य ४६. श्रीविहार ४७. योगत्याग और ४८. अग्रनिर्वृति, ये अड़तालीस क्रियायें हैं। इनमें त्रेपन गर्भान्वय क्रियाओं में से प्रारंभ की आधान, प्रीति, सुप्रीति से लेकर लिपिसंख्यान क्रिया तक तेरह क्रिया को निकालकर अवतार से लेकर उपयोगिता तक आठ क्रियायें मिलाई गयी है शेष चालीस क्रियायें पूर्व कथित त्रेपन क्रियाओं के अंत की ही हैं। अब इन क्रियाओं के लक्षण कहता हूँ—

व्रतों का धारण करना दीक्षा है, उनके महाव्रत और अणुव्रत की

अपेक्षा से दो भेद हैं। हिंसा आदि पाँच पापों का पूर्णतया त्याग करना अणुव्रत है। इन व्रतों के ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही दीक्षा है, उस दीक्षा से संबंधित जो क्रियायें हैं, वे दीक्षान्वय क्रियायें हैं।

१. अवतार क्रिया—जब मिथ्यात्व से दूषित हुआ कोई भव्य पुरुष समीचीन मार्ग को ग्रहण करना चाहता है तब यह क्रिया होती है। इसमें वह भव्यपुरुष मुनिराज के समीप जाकर या किसी गृहस्थाचार्य के पास जाकर प्रार्थना करता है कि हे महाबुद्धिमन्! मुझे निर्दोष अहिंसा धर्म का उपदेश दीजिए। तब वे मुनि या गृहस्थाचार्य उसे सच्चे आप्त, आगम और गुरु का स्वरूप बताकर धर्म का उपदेश देते हैं। उसे सुनकर वह पुरुष मिथ्याधर्म को छोड़कर समीचीन धर्म को गुरु से ग्रहण करने में अपनी बुद्धि लगाता है, उस समय गुरु ही उसका पिता और तत्त्वज्ञान ही संस्कार किया हुआ गर्भ है। वह भव्य पुरुष धर्मरूप जन्म के द्वारा उस तत्त्वज्ञानरूपी गर्भ में अवतीर्ण होता है, यही अवतार क्रिया है।

२. वृत्तलाभ क्रिया— उस समय गुरु के चरण-कमलों को नमस्कार करके विधिपूर्वक व्रतों को प्राप्त करते हुए, उस भव्य के वृत्तलाभ क्रिया होती है।

३. स्थानलाभ क्रिया—पुनः वह भव्य गुरु की आज्ञा से उपवास करके पूजा करता हुआ स्थानलाभ को प्राप्त होता है। इस क्रिया में जिनालय में किसी स्थान पर आठ पांखुडी का कमल या समवसरण के मंडल की रचना की जाती है। इसकी रचना पानी मिले हुए बारीक चूर्ण से या घिसे हुए चंदन से करनी चाहिए। विधानाचार्य इस मंडल की पूजा करावे पुनः आचार्य उस भव्य पुरुष को जिनप्रतिमा के सन्मुख बिठाकर बार-बार उसके मस्तक का स्पर्श करते हुए कहें कि 'यह तुम्हारी श्रावक

दीक्षा है।' पंचमुष्टि की रीति से उसके मस्तक का स्पर्श करते हुए कहें कि 'तुम इस दीक्षा से पवित्र हुए हो' पुनः गुरु पूजा के बचे हुए अक्षत उसके मस्तक पर क्षेपण करें तत्पश्चात् उसे पंचनमस्कार मंत्र देकर यह कहें कि 'यह मंत्र समस्त पापों से तुम्हारी रक्षा करे।'' यह विधि करके गुरु उसे पारणा के लिए भेज देवे। वह शिष्य भी गुरु के अनुग्रह से संतुष्ट होता हुआ अपने घर जाकर भोजन करे।

४. गणग्रह क्रिया—जैनी दीक्षा लेकर वह भव्य अपने घर से मिथ्या देवताओं को निकालते हुए उन देवताओं से कहें कि मैंने अपने अज्ञान से इतने दिन तक आदर के साथ आपकी पूजा की परन्तु अब मैं अपने मत के देवताओं की पूजा करूँगा, इसलिए क्रोध करना व्यर्थ है। आप अपनी इच्छानुसार किसी दूसरी जगह रहिए।' इस प्रकार प्रगट रूप से उन देवताओं को ले जाकर किसी अन्य स्थान पर रख दें। इस प्रकार पहले इन देवताओं को विसर्जित कर अपने मत के शांत देवताओं की पूजा करते हुए, उस भव्य के यह गणग्रह नाम की क्रिया होती है।

५. पूजाराध्य क्रिया—जिनेंद्रदेव, गुरु और शास्त्रों की पूजा करते हुए और शक्ति के अनुसार उपवास आदि व्रत करते हुए गुरु के मुख से अंग ग्रंथों का अर्थ सुनना, यह पूजाराध्य क्रिया है।

६. पुण्ययज्ञ क्रिया—पुनः पुण्य को बढ़ाने वाले, ऐसे चौदह पूर्व विद्याओं का गुरुमुख से अर्थ सुनना, यह पुण्ययज्ञ क्रिया है।

७. दृढ़चर्या क्रिया—अपने मत के ग्रंथों का श्रवण पूर्ण कर अन्य मत के ग्रंथों का अथवा अन्य किन्हीं दूसरे विषयों का सुनना दृढ़चर्या क्रिया है।

८. उपयोगिता क्रिया—व्रतों को दृढ़ करके पर्व के दिन उपवास

करके रात्रि में प्रतिमायोग धारण करना उपयोगिता क्रिया है।

९. उपनीति क्रिया—देवता और गुरु की साक्षीपूर्वक सफेद वस्त्र और यज्ञोपवीत धारण करके, आर्यों के करने योग्य छह क्रियाओं को करते हुए जैन[1] श्रावक दीक्षा की रक्षा करना, यह उपनीति क्रिया है।

१०. व्रतचर्या क्रिया—यज्ञोपवीत से युक्त वह भव्य पुरुष शब्द और अर्थ दोनों से अच्छी तरह उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) का अभ्यास करते हुए व्रतादि धारण करता है, यह व्रतचर्या क्रिया है।

११. व्रतावरण क्रिया— समस्त विद्यायें पढ़कर वह श्रावक जब गुरु की आज्ञा से फिर से आभूषण आदि ग्रहण करता है, यह व्रतावतरण क्रिया है।

१२. विवाह क्रिया—वह नवीन श्रावक अपनी विवाहिता पत्नी को भी श्राविका के व्रतों को गुरु से दिलाकर फिर से उससे सिद्ध भगवान् की पूजापूर्वक विवाह संस्कार कराता है, यह विवाह क्रिया है।

१३. वर्णलाभ क्रिया— इस क्रिया में वह जैन, ब्राह्मण पुराने चार ब्राह्मण श्रावकों को बुलाकर कहे कि 'आप लोग मुझे अपने समान बनाकर मुझ पर अनुग्रह कीजिए।' मैंने भी गुरु के अनुग्रह से मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व और अणुव्रत ले लिए हैं, इस प्रकार सुनकर वे श्रावक भी उसे आश्वासन देकर अपने में मिलाकर हर एक कार्य मिलकर करने लगते हैं, यह वर्णलाभ क्रिया है।

१४. कुलचर्या क्रिया—जैन श्रावक द्वारा की जाने वाली देवपूजा

---

१. यह जैन श्रावक दीक्षा अजैन ब्राह्मणकुलोत्पन्न पुरुष के लिए है। उत्तम जाति में जन्म लेने वाले अग्रवाल, ओसवाल आदि भी इसे ले सकते हैं।

पात्रदान आदि छह क्रियायें करना कुलचर्या क्रिया है।

शेष आगे की चौंतीस क्रियायें पूर्ववत् गर्भान्वय की त्रेपन क्रियाओं में कही जा चुकी हैं, वही से समझ लेना चाहिए।

(२८)

पुनः भरत महाराज कहते हैं—

"हे द्विजों ! मैं अब उन कर्त्रन्वय क्रियाओं को कहता हूँ, जो कि अल्पसंसारी भव्य प्राणी के ही हो सकती हैं। इनके सात भेद हैं—

१. सज्जाति २. सद्गृहित्व ३. पारिव्राज्य ४. सुरेन्द्रता ५. साम्राज्य ६. आर्हन्त्य और ७. परनिर्वाण।

१. सज्जाति— यह पहली क्रिया किसी निकट भव्य को मनुष्य जन्म की प्राप्ति होने पर होती है। पिता के वंश की शुद्धि कुल है और माता के वंश की शुद्धि जाति है। कुल और जाति की विशुद्धि सज्जाति है। इसके प्राप्त होने पर बिना प्रयत्न के सहज ही प्राप्त हुए गुणों से रत्नत्रय की प्राप्ति सहज हो जाती है। यह सज्जाति ही इष्ट पदार्थों का मूल कारण है। यह उत्तम शरीर के जन्म से होती है। दूसरी सज्जाति संस्कार रूप जन्म से होती है। जिस प्रकार विशुद्ध खान में उत्पन्न हुआ रत्न संस्कार के योग से अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार क्रियाओं और मंत्रों से सुसंस्कार को प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है। यह भव्य सम्यग्ज्ञानरूपी गर्भ से संस्काररूपी जन्म लेकर उत्पन्न होता है और व्रत तथा शील से विभूषित होकर द्विज कहलाता है। सर्वज्ञ की आज्ञा से यह तीन लर का यज्ञोपवीतरूप द्रव्यसूत्र और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप भावसूत्र को धारण करता है। यही श्रावक का पहचान रूप चिन्ह है, उस समय आचार्य लोग

उसके ऊपर जिनपूजा के शेषाक्षत क्षेपण कर आशीर्वाद देते हैं। इस प्रकार सज्जाति उत्तम कुल-वंश में जन्म लेना यह आगे के छह स्थानों के लिए मूलकारण है।

२. सद्गृहित्व— सज्जाति परमस्थान को प्राप्त कर श्रावक अणुव्रत और पूजा-दान आदि छह क्रियाओं से सद्गृहस्थ कहलाता है। यह गृहस्थ स्वयं पूजन करता है और दूसरों से भी कराता है। जैन वेद आदि ग्रंथों को पढ़ता है और शिष्यों को पढ़ाता है। सत्य, क्षमा, शौच, और दम आदि धर्माचरणों से अपने देवब्राह्मणत्व को स्थापित कर वह सर्वत्र पृथ्वी में पूज्य हो जाता है अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों उच्चवर्णी हैं, इनमें से सज्जाति स्थान वाला गृहस्थ व्रतों से सहित होकर सद्गृहस्थ बन जाता है।

यहाँ शंका यह होती है कि अषि, मषि, कृषि आदि छह कर्मों से आजीविका करने वाले जैन द्विज या गृहस्थ हिंसा के भागी तो होते ही हैं। इस शंका का आचार्य समाधान देते हैं—

आजीविका के लिए छह कर्म करने वाले जैन गृहस्थों के थोड़ी-सी हिंसा अवश्य होती है परन्तु शास्त्रों में उन दोषों की शुद्धि भी दिखलायी गई है, उनकी विशुद्धि के तीन अंग हैं—पक्ष, चर्या और साधन। उन तीनों में से मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावों को बढ़ाता हुआ, जो श्रावक समस्त हिंसा का (त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का) त्याग कर देता, यही जैनियों का 'पक्ष' कहलाता है। किसी देवता के लिए किसी मंत्र की सिद्धि के लिए अथवा किसी औषधि आदि के लिए मैं किसी जीव की हिंसा नहीं करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करना 'चर्या' है। इस चर्या में यदि किसी प्रकार से दोष लग जाये तो गुरु से

प्रायश्चित्त लेकर उसकी शुद्धि कर लेना चाहिए। सर्व कुटुंब पुत्र को सौंपकर घर का परित्याग करना भी इस 'चर्या' में ही है। आयु के अंत में शरीर, आहार और समस्त चेष्टाओं को छोड़कर ध्यान की शुद्धि से जो आत्मा को शुद्ध करना है वह साधन है। अरहंतदेव के शासन में रत हुए श्रावकों का पक्ष, चर्या और साधन इन तीनों में हिंसा के साथ स्पर्श नहीं होता है।

चार आश्रमों की शुद्धता भी अरहंत देव के मत में ही होती है— ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक, जैनों के ये चार आश्रम हैं। इनके अंतर्भेद अनेक हैं, उनका विस्तार अन्य चारित्रसार आदि ग्रंथों से जान लेना चाहिए, यही श्रावक की 'सद्गृहित्व' क्रिया है।

३. पारिव्राज्य— घर से विरक्त हो जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करना पारिव्राज्य क्रिया है। पारिव्राट्-दिगम्बर मुनि का जो निर्वाण दीक्षा लेना है, वही पारिव्राज्य क्रिया या परमस्थान है। मोक्षार्थी भव्य निर्ग्रंथ दिगम्बर आचार्य के पास जब नग्न दीक्षा की याचना करता है तब गुरु उसके कुल-गोत्र की शुद्धि देखकर शुभ मुहूर्त में दीक्षा देते हैं। शुभ मुहूर्त की अपेक्षा न कर जो गुरु चाहे जब दीक्षा दे देते हैं। वे शास्त्रों में प्रायश्चित के भागी माने गये हैं।[1] 'ग्रहों का उपराग, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, सूर्य-चन्द्रमा परिवेश, इन्द्र धनुष का निकलना, दुष्ट ग्रहों का उदय, मेघों से आच्छादित आकाश का होना, नष्ट मास या अधिक मास, संक्रांति अथवा क्षय-तिथि में दीक्षा नहीं देनी चाहिए।'

---

१. संप्रदायमनाहत्य यस्त्विमं दीक्षयेदधीः।
स साधुभिर्बहिः कार्यो बृद्धात्यासाध्नारतः।।१६१।।
(महापुराण, पर्व ३९)

पारिव्राज्य क्रिया में सत्ताइस सूत्रपद निरूपित किये गये हैं कि जिनका निर्णय होने पर पारिव्राज्य का साक्षात् लक्षण प्रगट होता है, उनके नाम-जाति, मूर्ति, उसमें रहने वाले लक्षण शरीर की सुन्दरता, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा कीर्ति, वंदनीयता, वाहन, भाषा आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं। ये परमेष्ठियों के गुणस्वरूप हैं। ये गुण जिस प्रकार परमेष्ठियों में होते हैं, उसी प्रकार दीक्षा लेने वाले शिष्य में भी यथासंभव रूप से होते हैं परन्तु शिष्य को अपने जाति आदि गुणों का सम्मान नहीं करके परमेष्ठी की ही जाति आदि गुणों का सम्मान करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से वह शिष्य अहंकार आदि दुर्गुणों से बचकर अपने आपका उत्थान शीघ्र ही कर सकता है।

१. जाति—स्वयं उत्तम जाति वाला होने पर भी अहंकार रहित होकर अरहंत देव के चरणों की सेवा करनी चाहिए। क्योंकि ऐसा करने पर वह भव्य मुनि दूसरे जन्म में क्रम से दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार जातियों को प्राप्त हो जाता है। इन्द्र के दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियों के विजयाश्रिता, अरहंतदेव के परमा और मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों के अपने आत्मा से उत्पन्न होने वाली स्वा जाति होती है।

२. मूर्ति—जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियों को प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कृश करना चाहिए, जिस प्रकार जाति के चार भेद हैं, उसी प्रकार मूर्ति के भी चार भेद होते हैं—दिव्यामूर्ति, विजयाश्रिता मूर्ति, परममूर्ति और स्वामूर्ति। कोई आचार्य मूर्ति के तीन भेद ही मानते हैं वे सिद्धों में स्वामूर्ति नहीं मानते हैं। क्योंकि मूर्ति का अर्थ शरीर से है।

३. लक्षण—शरीर में उत्तम-उत्तम तिल, व्यंजन आदि लक्षणों को धारण करता हुआ भी मुनि उन अपने लक्षणों का निर्देश करने के अयोग्य मानता हुआ जिनेन्द्र देव के लक्षणों का चिंतवन करके तपश्चरण करे। इसमें भी दिव्य लक्षण, विजयाश्रित लक्षण, परमलक्षण और स्वलक्षण ऐसे चार भेद हो जाते हैं।

४. सुन्दरता—जिनकी परम्परा अक्षुण्ण है, ऐसे दिव्य आदि सौंदर्यों की इच्छा करता हुआ मुनि अपने शरीर के सौंदर्य को मलिन करके कठिन तपश्चरण करे। इसके प्रभाव से ही उसे अगले भावों में दिव्य सौंदर्य, विजयाश्रित सौंदर्य, परमसौंदर्य और स्वसौंदर्य प्राप्त होगा।

५. प्रभा—मुनि अपने शरीर से उत्पन्न होने वाली प्रभा का त्याग कर शरीर को रज, पसीने आदि से मलिन रखते हुए अरहंत देव की प्रभा का ध्यान करें। इसी के प्रभाव से वह अपने भावों में दिव्य प्रभा, विजयाश्रित प्रभा, परमप्रभा और स्वप्रभा को प्राप्त कर लेता है।

६. मण्डल—जो मुनि अपने मणि और दीपक आदि के तेज को छोड़कर तेजोमय जिनेंद्रदेव की आराधना करता है, वह प्रभा मण्डल से उज्ज्वल हो उठता है। अर्थात् वह दिव्य प्रभा मण्डल, विजयाश्रित प्रभा मण्डल, परमप्रभा मण्डल और स्वप्रभा मण्डल को प्राप्त कर लेता है।

७. चक्र—जो पहले के अस्त्र, शस्त्र और वस्त्र आदि को छोड़कर अत्यन्त शांत होता हुआ जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है, वह मुनि धर्मचक्र का अधिपति होता है अर्थात् वह इन्द्र का दिव्यचक्र चक्रवर्ती का विजयाश्रित सुदर्शन चक्र, अरहंत देव का परमचक्र-धर्मचक्र और सिद्धों का स्वचक्र-स्वगुण समूह को प्राप्त कर लेता है।

८. अभिषेक—जो मुनि स्नान आदि संस्कार छोड़कर केवली

जिनेन्द्र का आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिंतवन करता है, वह मेरु पर्वत पर उत्कृष्ट जन्माभिषेक को प्राप्त होता है। यहाँ पर भी इन्द्र का दिव्य अभिषेक, चक्रवर्ती का साम्राज्य पद पर विजयाश्रित अभिषेक और तीर्थंकर अरहंत का जन्म-काल में जन्माभिषेक समझना चाहिए।

९. नाथता—जो मुनि अपने इस लोक संबंधी स्वामीपने को छोड़कर परम स्वामी श्री जिनेन्द्रदेव की सेवा करता है, वह जगत् के जीवों द्वारा सेवनीय होने से सबके नाथपने को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जगत के सब जीव उसकी सेवा करते हैं। यहाँ पर भी दिव्यनाथता, विजयाश्रितनाथता, परमनाथता और स्वनाथता घटित कर लेना चाहिए।

१०. सिंहासन—जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनों के भेदों का त्याग कर दिगम्बर हो जाता है वह सिंहासन पर आरूढ़ होकर तीर्थ को प्रसिद्ध करने वाला तीर्थंकर होता है। यहाँ पर भी क्रम से दिव्य सिंहासन, विजयाश्रित सिंहासन और स्वसिंहासन लगा देना चाहिए।

११. उपधान—जो मुनि अपने तकिया आदि का अनादर करके परिग्रह रहित हो जाता है और केवल अपनी भुजा पर सिर रखकर पृथ्वी के ऊँचे-नीचे प्रदेश पर शयन करता है। वह महाअभ्यदुय को प्राप्त कर जिन हो जाता है। उस समय सब लोग उनका आदर करते हैं और वह देवों के द्वारा बने हुए दैदीप्यमान तकिया को प्राप्त होता है। यहाँ भी दिव्य उपधान, विजयाश्रित उपधान, परम उपधान और स्वउपधान समझना चाहिए।

१२. छत्र—जो मुनि शीतल छत्र-छाते आदि अपने समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है, वह स्वयं दैदीप्यमान रत्नों से युक्त तीन छत्रों से सुशोभित होता है अर्थात् गृहस्थावस्था के धूप के निवारक छाता आदि परिग्रह त्यागी मुनि को क्रम से दिव्य छत्र, विजयाश्रित छत्र, परम

छत्र और स्वच्छत्र प्राप्त करते हैं।

१३. चामर—जिसने अनेक प्रकार के पंखों के त्याग से तपश्चरण विधि का पालन किया है, ऐसे मुनि को जिनेन्द्र पर्याय प्राप्त होने पर चौसठ चँवर ढुराये जाते हैं अर्थात् दिव्य चामर, विजयाश्रित चामर और परम चामर संज्ञक चँवर उन पर ढुरते हैं।

१४. घोषणा—जो मुनि नगाड़े तथा संगीत आदि की घोषणा का त्याग कर तपश्चरण करता है, उसके विजय की सूचना स्वर्ग के दुदुंभियों के गंभीर शब्दों से घोषित की जाती है। यहाँ पर भी क्रम से दिव्य घोषणा विजयाश्रित घोषणा और परम घोषणा समझना चाहिए।

१५. अशोक वृक्ष—चूँकि पहले उसने अपने उद्यान आदि की छाया का परित्याग कर तपश्चरण किया था, इसलिए उसे अरहंत अवस्था में महाअशोक वृक्ष की प्राप्ति होती है। यहाँ पर भी इन्द्र के नंदन वन का अशोक-दिव्य अशोक,चक्रवर्ती के उद्यान का विजयाश्रित अशोक और अरहंत देव का परम अशोक वृक्ष समझना।

१६. निधि—जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्मत्व भाव को प्राप्त होता है। समवसरण भूमि में निधियाँ दरवाजे पर खड़ी होकर उसकी सेवा करती हैं। यहाँ पर भी दिव्य निधि, विजयाश्रित निधि और परमनिधि की कल्पना की जा सकती है।

१७. गृहशोभा—जिसकी सब ओर से रक्षा की गई थी, ऐसे अपने घर की शोभा को छोड़कर इसने तपश्चरण किया था, इसीलिए श्री मण्डप की शोभा अपने आप इसके सामने आ जाती है। यहाँ पर भी इन्द्र के विमान की शोभा दिव्यगृह शोभा है, चक्रवर्ती के भवन की शोभा विजयाश्रित गृहशोभा है और अरहंतदेव के समवसरण में श्री मण्डप की

शोभा परम गृहशोभा है। अंत में निर्वाणधाम की शोभा स्व-गृह शोभा कही जायेगी।

१८. अवगाहन—जो मुनि तप करने के लिए सघन वन में निवास करता है, उसे तीनों जगत् के जीवों के लिए स्थान दे सकने वाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमें तीनों लोकों के समस्त जीव स्थान पा सकते हैं। यहाँ पर भी इन्द्रों का दिव्य अवगाहन,चक्रवर्ती का विजयाश्रित अवगाहन, अरहंत का परम अवगाहन और सिद्धों का स्व-अवगाहन घटित कर लेना चाहिए।

१९. क्षेत्रज्ञ—जो क्षेत्र मकान आदि का त्याग कर शुद्ध आत्मा का आश्रय लेता है उसे तीनों जगत् को अपने अधीन रखने वाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्र को दिव्य क्षेत्रज्ञ, चक्रवर्ती को विजयाश्रित क्षेत्रज्ञ, अरहंत को परमक्षेत्रज्ञ और सिद्धों को स्वक्षेत्रज्ञ प्राप्त होता है।

२०. आज्ञा—जो मुनि आज्ञा देने का अभिमान छोड़कर मौन धारण करता है उसकी उत्कृष्ट आज्ञा सुर-असुरगण अपने मस्तक से धारण करते हैं अर्थात् उसकी आज्ञा समस्त जीव मानते हैं। यहाँ भी दिव्य आज्ञा, विजयाश्रित आज्ञा, परम आज्ञा और अन्त में स्व आज्ञा प्राप्त होती है।

२१. सभा—जो मुनि अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदि की सभा का परित्याग कर देता है, उसके अरहंत अवस्था में तीनों लोकों की सभा समवसरण सभा को प्राप्त होती है अर्थात् इन्द्र की दिव्य सभा, चक्रवर्ती की विजयाश्रित सभा, अरहंत की परमसभा और सिद्धों की स्वसभा ये क्रम से उसे प्राप्त हो जाती है।

२२. कीर्ति—जो सब प्रकार की इच्छाओं का परित्याग कर अपने गुणों की प्रशंसा करना छोड़ देता है और महातपश्चरण करता हुआ स्तुति-निंदा में समान भाव रखता है, वह तीनों लोकों के इन्द्रों द्वारा प्रशंसित होता है। यहाँ भी क्रम से दिव्य कीर्ति, विजयाश्रित कीर्ति, परमकीर्ति और स्वकीर्ति मिलती है।

२३. वंदनीयता— इस मुनि ने वंदना करने योग्य अरहंतदेव की वंदना कर तपश्चरण किया था, इसलिए यह वंदना करने योग्य भी पूज्य पुरुषों द्वारा वंदना को प्राप्त हो जाता है। यहाँ भी दिव्य वंदनीयता, विजयाश्रित वंदनीयता, परमवंदनीयता और स्ववंदनीयता इन चारों की प्राप्ति उन वंदना करने वाले मुनि को प्राप्त हो जाती है।

२४. वाहन—जो पादत्राण—जूता और सवारी आदि का त्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है, वह कमलों के मध्य में चरण रखने योग्य हो जाता है अर्थात् अरहंत अवस्था में देवगण उनके चरणों के नीचे कमलों की रचना करते हैं। यहाँ भी दिव्यवाहन, विजयाश्रित वाहन, परमवाहन और स्ववाहन घटित करना चाहिए।

२५. भाषा—चूँकि यह मुनि वचनगुप्ति को धारण कर अथवा हित-मित वचनरूप भाषा समिति का पालन कर तपश्चरण में स्थित हुआ था, इसलिए ही इसे समस्त सभा को संतुष्ट करने वाली दिव्यध्वनि प्राप्त हुई है। यहाँ भी इन्द्रों की दिव्यभाषा, चक्रवर्ती की विजयाश्रित भाषा, अरहंत की परमभाषा समझना तथा सिद्धों की भाषा नहीं है।

२६. आहार—इस मुनि ने पहले उपवास धारण कर अथवा नियमित आहार और पारणाएं कर तप तपा था इसलिए ही इसे दिव्यतृप्ति, विजयतृप्ति, परमतृप्ति और स्वतृप्ति ये चारों ही तृप्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

२७. सुख—यह मुनि काम जनित सुख को छोड़कर चिरकाल तक तपश्चरण में स्थिर रहा है, इसलिए ही यह सुख स्वरूप होकर परमानन्द को प्राप्त हुआ है। यहाँ पर भी क्रम से इसे दिव्यसुख, विजयसुख, परमसुख और स्वसुख प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार से ये सत्ताइस सूत्रपद कहे गये हैं। इनके होने पर मुनिचर्या आदर्शचर्या हो जाती है।

इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है? संक्षेप में इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्प रहित होकर जिस प्रकार की जिस-जिस वस्तु का परित्याग करता है, उसका तपश्चरण उसके लिए वही-वही वस्तु उत्पन्न कर देता है, जिस तपश्चरणरूपी चिंतामणि का फल उत्कृष्ट पद की प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अरहंतदेव की जाति तथा मूर्ति आदि की प्राप्ति होती है, ऐसे पारिव्राज्य नाम के परमस्थान का वर्णन किया गया है। जो आगम में कही हुई जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है, उसी के वास्तविक पारिव्राज्य होता है। अनेक प्रकार के वचनों के जाल में निबद्ध तथा युक्ति से बाधित अन्य लोगों के पारिव्राज्य को छोड़कर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्राज्य को ग्रहण करना चाहिए। यह तीसरी पारिव्राज्य क्रिया होती है।

४. सुरेन्द्रता क्रिया—पारिव्राज्य के फल से सुरेन्द्र पद की प्राप्ति होती है, यही परमस्थान भी कहलाता है। गर्भान्वय क्रियाओं के अंतर्गत ३३वीं, ३४वीं, ३५वीं और ३६वीं क्रियाओं में इस इन्द्रपद का वर्णन हो चुका है।

५. साम्राज्य क्रिया—इसमें चक्ररत्न के साथ-साथ निधियों और

रत्नों से उत्पन्न हुए भोगोपभोग रूपी सम्पदाओं का बहुत बड़ा वैभव प्राप्त होता है, यही साम्राज्य क्रिया है।

६. आर्हन्त्य क्रिया—अर्हंत भगवान् का भाव अथवा कर्मरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है, वह आर्हन्त्य क्रिया है। इसमें स्वार्गावतार आदि पाँच कल्याणक होते हैं, उनमें भी समवसरण में दिव्यध्वनि का खिरना असंख्य जीवों को लाभ मिलना प्रधान है। आर्हन्त्य अवस्था के प्रगट होने पर ही यह समवसरण बनता है यह क्रिया तीनों लोकों में आश्चर्य उत्पन्न करने वाले ऐसे तीर्थंकर पद के प्राप्त होने पर होती है।

७. परिनिर्वृति क्रिया—संसार के बंधन से निर्मुक्त हुए परमात्मा की जो अवस्था होती है, उसे परिनिर्वृति कहते हैं। इसका दूसरा नाम परिनिर्वाण भी है। समस्त कर्म मल के नष्ट हो जाने पर जो अन्तरात्मा की शुद्धि होती है, उसे सिद्धि कहते हैं। यह अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति रूप है इसमें आत्मा के अनंतगुण प्रगट हो जाते हैं और इस निर्वाण को प्राप्त कर लेने के बाद फिर कभी इस संसार में अवतार नहीं होता है। यही सातवीं परिनिर्वाण क्रिया है।

कोई भी भव्य पुरुष प्रथम ही योग्यजाति-सज्जाति को पाकर सद्गृहस्थ होता है फिर गुरु की आज्ञा से उत्कृष्ट पारिव्राज्य को प्राप्त कर स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। वहाँ उसे इन्द्र का वैभव मिलता है। वहाँ से च्युत होकर चक्रवर्ती पद प्राप्त कर लेता है, अनंतर अरहंत पद को प्राप्त कर उत्कृष्ट महिमा का धारक होकर अंत में निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार महाराज भरत ने उन द्विजों को सात प्रकार की कर्त्रन्वय क्रियाओं का उपदेश दिया।

मुनियों के कार्य की सिद्धि भी मंत्रों के ही अधीन होती है। पूर्व

कथित सर्व क्रियाओं में वेदी के मध्य सिद्ध प्रतिमा या जिनप्रतिमा को विराजमान कर सामने तीन छत्र, तीन चक्र और तीन अग्नि स्थापित करके श्रावक जो पूजा व हवनविधि करते हैं, वह मंत्रकल्प है।

इस हवन में 'सत्यजाताय नमः' आदि पीठिका मंत्र बोले जाते हैं। 'सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' जाति संस्कार के कारण होने से ये जातिमंत्र कहलाते हैं। 'सत्यजाताय स्वाहा' आदि निस्तारक मंत्र हैं। 'सत्यजाताय नमः' आदि ऋषिमंत्र हैं पुनः 'सत्यजाताय स्वाहा' आदि सुरेंद्र मंत्र हैं। प्रथम 'सत्यजाताय स्वाहा' आदि से परमराजादि मंत्र हैं पुनः 'सत्यजाताय नमः' से प्रारंभ कर परमेष्ठी होते हैं। ये पीठिकामत्र आदि सात प्रकार के मंत्र गर्भाधान आदि क्रियाओं के करने में क्रियामंत्र कहलाते हैं और गणधरों द्वारा कहे हुए सूत्र में ये ही साधन मंत्र हो जाते हैं। विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए ये ही मंत्र संध्याओं के समय देवपूजन रूप नित्य क्रिया करते समय तीनों अग्नियों में आहुति देने से आहुति मंत्र कहलाते हैं[१]।

हवनक्रिया के प्रारंभ में अग्निकुण्ड तीन प्रकार के बनते हैं— चौकोर, गोल और त्रिकोन। इनमें चौकोर कुण्ड तीर्थंकर कुण्ड होता है।

इन कुंडों में विधि के जानकार जैन, द्विज या श्रावक रत्नत्रय का संकल्प पर अग्निकुमार देवों के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न तीन प्रकार की महाअग्नि को तीन कुंडों में स्थापित करना चाहिए। इन अग्नियों के गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि ये नाम हैं। इन तीनों प्रकार की अग्नियों में मंत्रों द्वारा पूजा करने वाले पुरुष जैन, द्विज या श्रावकोत्तम कहलाते हैं, जिसके घर इस प्रकार की पूजा नित्य होती है वह आहिताग्नि

१. इनका विशेष विस्तार महापुराण पर्व ४० से देख लेना चाहिए। वैसे हवनविधि में ये ही मंत्र सर्वत्र छपे हुए हैं।

या अग्निहोत्री कहलाता है। नित्य पूजन करते समय इन तीनों प्रकार की अग्नियों का प्रयोग नैवेद्य के पकाने में, धूप खेने में और दीपक जलाने में किया जाता है अर्थात् गार्हपत्य अग्नि से नैवेद्य बनाया जाता है, आहवनीय अग्नि में धूप खेई जाती है और दक्षिणाग्नि से दीपक जलाया जाता है। घर में बड़े प्रयत्न के साथ इन तीनों अग्नियों की रक्षा करनी चाहिए और जिनका कोई संस्कार नहीं हुआ है, ऐसे लोगों को कभी ये अग्नि नहीं देनी चाहिए।

अग्नि में स्वयं पवित्रता नहीं है और न वह देवतारूप है किन्तु अरहंत भगवान् की दिव्यमूर्ति की पूजा के संबंध से वह अग्नि पवित्र हो जाती है, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव के संबंध से और उनके निर्वाण आदि से क्षेत्र, पर्वत आदि पूज्य हो जाते हैं, उन क्षेत्र आदि की पूजा करने में कोई दोष नहीं है[१]। जैन ब्राह्मणों और श्रावकों को व्यवहार नय की अपेक्षा ही अग्नि की पूज्यता इष्ट है। ये हवन मंत्र हवनविधि की पुस्तकों में मुद्रित हैं तथा आधानादि क्रियाओं के विशेष मंत्र उन-उन क्रियाओं के लक्षण में दे दिये हैं।

आप व्रतिकों के लिए उपासकाध्ययन सूत्र में जो दस अधिकार कहे हैं उन्हें मैं यथाक्रम से नाम के अनुसार कहता हूँ—१. अतिबाल विद्या २. कुलावधि ३. वर्णोत्तमत्व ४. पात्रत्व ५. सृष्टि अधिकारता

१. न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्वं देवतारूपमेव वा।
किंत्वर्हद्दिव्यमूर्तीज्या संवंधात् पावनोऽनलः।।८८।।
ततः पूजांगतामस्य मत्वार्चंति द्विजोत्तमाः।
निर्वाणक्षेत्र पूजावत्तत्पूजातो न दुष्यति।।८९।।
(महापुराण या आदिपुराण, पर्व ४०)

६. व्यवहारेशिता ७. अवध्यत्व ८. अदण्ड्यता ९. मानार्हता और १०. प्रजासंबंधान्तर। उपासक संग्रह में ये दस अधिकार वस्तुएं बतलाई गई हैं। इनके संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार हैं—

१. अतिबाल विद्या—द्विजों को बाल्य अवस्था से ही विद्या सिखलाने का उद्योग किया है, उसे अतिबाल विद्या कहते हैं। इस विद्या के अभाव में द्विज मूर्ख रह जाता है या मिथ्या शास्त्रों के अध्ययन में लग जाता है इसलिए आप द्विज लोग अपनी-अपनी संतान को बाल्य जीवन से ही श्रावकाचार शास्त्रों का अभ्यास करा देवें, ऐसे द्विज स्व-पर के तारक हो जाते हैं।

२. कुलावधि—अपने कुल के आचार की रक्षा करना यह कुलावधि क्रिया है। क्योंकि कुल के आचार की रक्षा न होने पर पुरुष की समस्त क्रियायें नष्ट हो जाती हैं।

३. वर्णोत्तमत्व—समस्त वर्णों में श्रेष्ठ होना यह वर्णोत्तम क्रिया है। इस वर्णोत्तम क्रिया से ही यह सर्ववर्णों में प्रशंसा को प्राप्त करता हुआ निज-पर का उद्धार करने में समर्थ होता है।

४. पात्रत्व—गुणों का गौरव होने से दान देने के योग्य पात्रता भी ऐसे द्विजों में आती है क्योंकि जो गुणों से अधिक होता है, वह संसार में सब लोगों के द्वारा पूजा-आदर, सत्कार को प्राप्त करता है अत: आप द्विज लोग अपने में गुणों की विशेषता से पात्रत्व के अधिकार को प्राप्त करें।

५. सृष्टि अधिकारता—जिनकी सृष्टि उत्तम है, ऐसे आप लोग मिथ्यादृष्टियों द्वारा की हुई सृष्टि को दूर से ही छोड़कर अपने सृष्टि के अधिकारों की रक्षा करें। नय और तत्वों को जानने वाले आप लोग अनादि क्षत्रियों द्वारा रची गई धर्मसृष्टि की ही प्रभावना करें। धर्म का

आश्रय लेने वाले राजाओं से कहें कि तीर्थंकरों द्वारा रची हुई, यह सृष्टि अनादिकाल से चली आ रही है, इसलिए आप लोग भी इसकी रक्षा कीजिए, ऐसा राजाओं को समझना चाहिए।

६. व्यवहारेशिता—परमागम को जानने वाले आप द्विजों को प्रायश्चित आदि देकर गृहस्थों को पापों से दूर करना चाहिए, यही व्यवहारेशिता है। इस अधिकार के अभाव में आप न अपने को शुद्ध कर सकेंगे और न दूसरों को शुद्ध कर सकेंगे अत: जो यह अधिकार तुम्हारा है, उसकी रक्षा करना चाहिए।

७. अवध्यत्व—आप लोग व्रती होने से स्थिर अन्त:करण को धारण करने वाले हैं इसलिए गुणों की अधिकता से आप ब्राह्मण दूसरों द्वारा अवध्य-वध करने योग्य नहीं है।' सर्व प्राणियों को नहीं मारना चाहिए और विशेषकर ब्राह्मणों को नहीं मारना चाहिए। इस प्रकार गुणों की अधिकता और हिंसा के दो भेद हो गये हैं। यथार्थ में यह धर्म का ही माहात्म्य है कि जो धर्म में स्थित रहकर किसी से तिरस्कृत नहीं हो पाता। यदि ऐसा न माने तो अर्हंत देव के धर्म की प्रामाणिकता नष्ट हो जायेगी अत: सर्व प्रयत्नों से सनातन धर्म की (पुरातन जैन धर्म की) रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि अच्छी तरह रक्षा किया धर्म ही उसकी रक्षा करता है।

८. अदण्ड्यता— धर्म में स्थिर रहने वाला मनुष्य ही दूसरों को दण्ड देने में समर्थ हो सकता है और स्वयं किसी के द्वारा दण्ड्यदण्ड के योग्य नहीं होने से अदण्ड्य रहता है जिस प्रकार अपना हित चाहने वाले पुरुष देवद्रव्य और गुरुद्रव्य ग्रहण नहीं करते हैं, उसी प्रकार उन्हें ब्राह्मण का द्रव्य भी त्याग करने योग्य है अत: आप लोग अपने में अधिक गुणों को धारण कर अपने को 'अदण्ड्य' बनाकर यह अधिकार प्राप्त करें।

९. मानार्हता— ब्राह्मण जो अच्छी तरह सन्मान के योग्य होते हैं वही आपका मान्यत्व अधिकार है क्योंकि जो गुणों से अधिक होते वे ही सभी पुरुषों के द्वारा सम्मान के योग्य होते हैं।

१०. प्रजासंबंधान्तर—अन्य धर्मावलंबियों के साथ संबंध होने पर भी जो अपनी उन्नति से च्युत नहीं होता है, वही आपका प्रजा संबंधान्तर नाम का गुण है। यह धर्म की प्रभावना को बढ़ाने वाला है।

इस प्रकार अतिबालविद्या आदि ये दस अधिकार कहे हैं। इन्हें यथायोग्य स्वीकार करने वाला द्विज ही सब लोगों को मान्य हो सकता है। इन गुणों के साथ अन्य विशेष गुण बहुत विस्तार से विवेचन करने योग्य हैं, उन्हें उपासकाध्ययन शास्त्र से विस्तार से समझना चाहिए।

जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित मुख्य-मुख्य योद्धा भी सेनापति के बिना कुछ भी नहीं कर सकते, उसी प्रकर मंत्रों से रहित क्रियायें भी प्रयोग करने वाले पुरुषों की कुछ भी सिद्धि नहीं कर सकती। इसलिए आप द्विजों की सब विधि अच्छी तरह जानकर मंत्रोच्चारण के साथ-साथ सब क्रियायें विधिपूर्वक करानी चाहिए।''

इस प्रकार धर्म के द्वारा विजय प्राप्त करने वाले, धार्मिक क्रियाओं में निपुण, धर्मप्रिय ऐसे भरतक्षेत्र के अधिपति महाराज भरतेश्वर ने अनेक राजा लोगों की साक्षीपूर्वक अच्छे-अच्छे व्रत धारण करने वाले उन उत्तम द्विजों को अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मणवर्ण की सृष्टि की, ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। महाराज भरत ने सत्कार प्राप्त कर, व्रतों के निमित्त से सुन्दर चारित्र धारण करने वाले, उदारचित्त, शास्त्रों के ज्ञाता, श्री वृषभ जिनेन्द्र के मतानुसार दीक्षा से पूजित, ऐसे ये ब्राह्मण उस समय बहुत ही प्रसिद्धि को प्राप्त हो गये और सभी ने उनका खूब ही आदर-सत्कार

किया। इसके बाद इक्ष्वाकु कुल चूडामणि महाराज भरत जैनमार्ग में स्थित उन ब्राह्मणों को सदाचार में स्थिर कर प्रतिदिन उनका सम्मान करते हुए अपने आपको धन्य मानने लगे। सो ठीक ही है क्योंकि आनन्द से युक्त अपनी सृष्टि को देखता हुआ भला ऐसा कौन-सा पुण्यवान् पुरुष है कि जो अपने आपको कृतकृत्य न माने? इसलिए भरत भी अपनी सृष्टि को देखते हुए अपने आपको कृतकृत्य मान रहे थे। भरत महाराज की आज्ञा से सर्व राजागण और प्रजा के लोग भी इन ब्राह्मणों का सत्कार करते हुए, इन्हें दान आदि देते हुए और इनके द्वारा आधान आदि क्रियायें कराते हुए इन्हें बहुमान देने लगे।

(२९)

जिनपूजा और दान में सतत् प्रवृत्ति करते हुए चक्रवर्ती भरत अपना बहुत-सा समय सुखपूर्वक बिता रहे थे। इसी मध्य एक रात्रि में उन्हें कुछ विशेष स्वप्न दिखे। उनकी निद्रा भंग हो गई। तभी वे कुछ खेद-खिन होते हुए सोचने लगे।

''ये स्वप्न मुझे प्राय: बुरे फल देने वाले जान पड़ते हैं तथा साथ में यह भी जान पड़ता है कि ये स्वप्न कुछ दूर आगे के पंचम काल में फल देने वाले होंगे। क्योंकि यहाँ इस समय भगवान् ऋषभदेव के प्रकाशमान रहते हुए प्रजा को इस प्रकार उपद्रव होना कैसे संभव हो सकता है? इसलिए कदाचित् इस कृतयुग-चतुर्थ काल के व्यतीत हो जाने पर जब पाप की अधिकता होने लगेगी तब ये अनिष्ट स्वप्न अपना फल दे सकेंगे। जो भी हो, मेरा तो यह अनुमान ज्ञान है। जब तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखने वाले भगवान् ऋषभदेव समवसरण में विराजमान हैं तब सारा स्पष्टीकरण प्रभु से ही करना चाहिए। इसलिए मैंने जो ब्राह्मण

वर्ण की एक नवीन सृष्टि की है उसे भी भगवान् के चरणों में निवेदन करना चाहिए पुनः अच्छे पुरुषों का तो यह कर्त्तव्य है कि 'वे प्रतिदिन गुरुओं का दर्शन करें, उनसे अपना हित-अहित पूछें और बड़े वैभव से उनकी पूजा करें।"

इस प्रकार मन में विचार कर महाराज भरत ने शय्या से उठकर प्रातःकालीन समस्त क्रियाएं कीं पुनः जगद्गुरु भगवान् की वंदना के लिए प्रस्थान कर दिया। वहाँ पहुँचकर पहले समवसरण भूमि की बाहर से ही प्रदक्षिणाएँ देकर अन्दर प्रवेश किया। वहाँ क्रम-क्रम से मानस्तंभ चैत्यवृक्ष स्तूप आदि की पूजा करते हुए भगवान् की गन्धकुटी के पास पहुँच गये। "उस समय भक्तिपूर्वक भगवान की वंदना करते हुए राजा भरत के परिणामों में इतनी विशुद्धि हुई कि उन्हें उसी क्षण ही अवधिज्ञान प्रगट हो गया?" अहो! भक्ति का माहात्म्य अचिन्त्य है।

अनंतर भगवान् की पूजा-स्तुति कर चुकने के बाद सम्राट् भगवान् अपने मनुष्यों के कोठे में बैठ गये पुनः विनय से हाथ जोड़कर भगवान् के श्रीचरणों में निवेदन करने लगे—

'हे भगवन्! मैंने आपके द्वारा कहे हुए उपासकाध्ययन सूत्र के मार्ग पर चलने वाले तथा श्रावकाचार में निपुण ऐसे 'ब्राह्मण' निर्माण किए हैं। हे प्रभो! समस्त धर्मरूपी सृष्टि को साक्षात् उत्तम करने वाले आपके विद्यमान रहते हुए भी मैंने यह बहुत बड़ी मूर्खता की है, जो कि यह नई सृष्टि बना दी है। देवाधिदेव! इन ब्राह्मणों की रचना में क्या दोष है? और क्या गुण है? यह रचना योग्य हुई या नहीं? इस प्रकार मेरा मन चलायमान हो रहा है, सो आप मेरे मन को किसी निश्चय में स्थिर कीजिए। हे परमपिता परमेश्वर! इसके अतिरिक्त मैंने आज रात्रि के

अंतिम भाग में सोलह स्वप्न देखे हैं—

१. प्रथम स्वप्न में मैंने तेइस सिंह २. दूसरे में सिंह के बच्चे के पीछे चलते हुए हिरणों का समूह ३. तीसरे में हाथी के योग्य भार को घोड़े पर देखा ४. चौथे स्वप्न में बकरों का झुंड सूख पत्ते खाते हुए ५. पाँचवे में हाथी के कंधे पर वानर बैठे हुए ६. छठे स्वप्न में कौवों द्वारा उल्लू को त्रास ७. सातवें में नाचते हुए बहुत से भूत ८. आठवें में तालाब का मध्य सूखा हुआ ९. नवें में धूलि से मलिन रत्न १०. दसवें में कुत्ते को नैवेद्य खाते हुए ११. ग्यारहवें में ऊँचे स्वर में शब्द से विचरण करता तरुण बैल १२. बारहवें में परिमण्डल से घिरा हुआ चन्द्रमा १३. तेरहवें में परस्पर में मिलकर जाते हुए दो बैल १४. चौदहवें में मेघों से ढका हुआ सूर्य १५. पन्द्रहवें में सूखा वृक्ष और १६. सोलहवें में जीर्ण पत्तों को देखा है। इनका फल क्या है? सो यह सब में आपकी दिव्यध्वनि से सुनना चाहता हूँ।"

यद्यपि निधियों के अधिपति चक्रवर्ती भरत उसी समय प्रगट हुए अपने अवधिज्ञान से उन प्रश्नों का फल जानने में निपुण थे। फिर भी विनय गुण की अधिकता से तथा सभा में सभी लोग इन बातों को अच्छी तरह जान लेवें, इसी अभिप्राय से वे प्रश्न कर रहे थे। उनका प्रश्न होने के बाद जगद्गुरु ऋषभदेव भगवान् की दिव्यध्वनि खिरने लगी। भगवान् ने कहा—

हे वत्स! जो तूने द्विजों की पूजा की है, सो बहुत अच्छा किया है। परन्तु इसमें कुछ दोष हैं, उसे तू सुन—हे आयुष्मन्! जो तूने इस गृहस्थों की रचना की है, सो जब तक कृतयुग की स्थिति रहेगी, तब तक ये उचित आचार का पालन करते रहेंगे किन्तु कलयुग में ये सदाचार

से च्युत होकर मोक्षमार्ग के विरोधी बन जायेंगे। यद्यपि यह सृष्टि कालांतर में दोष का बीजस्थ है तथापि धर्मसृष्टि का उल्लंघन न हो इसलिए इस समय इनका परिहार करना भी अच्छा नहीं है। यह तो ब्राह्मण वर्ण की स्थापना का उत्तर हुआ। अब स्वप्नों का फल सुनो।

१. प्रथम स्वप्न में जो तुमने ''तेइस सिंह अकेले पृथ्वी पर विहार कर पर्वत पर चढ़ गये'', ऐसा देखा है उसका फल यह है कि महावीर स्वामी को छोड़कर शेष तेईस तीर्थंकरों के समय में दुष्ट नयों की उत्पत्ति नहीं होगी।

२. दूसरे स्वप्न में ''अकेले सिंह के बच्चे के पीछे चलते हुए हिरणों का समूह'' देखा है, उसका फल यह है कि महावीर स्वामी के तीर्थ में परिग्रह को धारण करने वाले बहुत से कुलिंगी हो जावेंगे।

३. ''बड़े हाथी के योग्य भार को घोड़े की पीठ पर लाद देने से उसकी पीठ झुक गई है।'' इस तृतीय स्वप्न का फल यह कहता है कि पंचम काल के साधु तपश्चरण के समस्त गुणों को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। कोई मूलगुण और उत्तर-गुणों के पालन करने की प्रतिज्ञा लेकर उनके पालन करने में आलसी हो जायेंगे, कोई उन्हें मूल से ही भंग कर देंगे और कोई उनमें मंदता, कुछ अतिचार आदि लगा देंगे।

४. चतुर्थ स्वप्न में ''बकरों का समूह सूखे पत्तों को खा रहा है'' इसे देखने का यह फल समझो कि आगामी काल में मनुष्य सदाचार को छोड़कर दुराचारी हो जायेंगे।

५. ''हाथी के कंधे पर वानरों के देखने'' से यह फल है कि आगे चलकर प्राचीन क्षत्रियवंश का उच्छेद हो जायेगा और नीचकुल वाले पृथ्वी का पालन करेंगे।

६. ''कौओं द्वारा उल्लू को त्रास दिया जाना'' देखने से यह स्पष्ट है कि आगे मनुष्य धर्म की इच्छा से जैन मुनियों को छोड़कर अन्य पाखण्डियों के समीप जायेंगे।

७. ''नाचते हुए बहुत से भूतों के देखने से'' प्रजा के लोग नामकर्म आदि कारणों से व्यंतरों को देव समझकर उनकी उपासना करने लगेंगे।

८. ''तालाब के चारों ओर पानी भरा है किन्तु मध्य का भाग सूख गया है'', ऐसा देखने का यह फल है कि धर्म आर्यखण्ड से हटकर प्रत्यंतवासी-म्लेच्छ निवासी लोगों में ही रह जावेगा।

९. ''धूलि से मलिन रत्नों की राशि'' देखने का फल है, पंचम काल में ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नहीं होंगे।

१०. ''आदर-सत्कार से जिसकी पूजा की गई है, ऐसा कुत्ता नैवेद्य खा रहा है'' इसका यह फल है कि व्रत रहित ब्राह्मण गुणी पात्रों के समान आदर पायेंगे।

११. ''ऊँचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार'' देखने से लोग तरुण अवस्था में ही मुनिपद में ठहर सकेंगे, अन्य अवस्था में नहीं।

१२. ''परिमण्डल से घिरे हुए चन्द्रमा'' के देखने से यह समझो कि पंचमकाल के मुनियों में अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान नहीं होगा।

१३. ''परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलों को देखने से'' यह सूचित होता है कि पंचमकाल में मुनिजन साथ-साथ रहेंगे, अकेले विहार करने वाले नहीं होंगे।

१४. ''सूर्य मेघों के आवरण से ढंक गया है'' ऐसा स्वप्न देखने का यह फल होगा कि पंचमकाल में केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय नहीं होगा।

१५. ''छाया रहित सूखा वृक्ष'' देखने से यह सूचित होता है कि

स्त्री-पुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो जावेगा।

१६. "जीर्ण पत्तों का समूह" देखने से सूचित हो रहा है कि महाऔषधियों का रस नष्ट हो जायेगा, वे नीरस हो जाने से रोगादि को नष्ट करने में पूर्णतया समर्थ नहीं हो सकेंगे।

ऐसे फल देने वाले इन स्वप्नों को तू दरविपाकी-बहुत समय बाद फल देने वाले समझ, इसलिए इस समय कोई दोष नहीं होगा, इनका फल पंचमकाल में होगा।

हे वत्स! मुझसे इन स्वप्नों का यथार्थ फल जानकर तू समस्त विघ्नों की शांति के लिए धर्म में अपनी बुद्धि कर।

भरत ने भगवान् श्री ऋषभदेव के मुखकमल से समाधान प्राप्त कर संदेह रूपी कीचड़ दूर कर अपना चित्त निर्मल कर लिया पुन: भगवान् को नमस्कार कर वापस अपनी अयोध्या नगरी में आ गये। खोटे स्वप्नों से होने वाले अनिष्ट की शांति के लिए जिनेंद्रदेव की प्रतिमा का महाभिषेक किया, महर्षियों की पूजा की, उत्तम पात्रों को दान देकर और भी अनेक पुण्य क्रियाओं को करते हुए शांति कर्म किया।

धर्मप्रिय सम्राट्, भरत ने अनेक जिनमंदिरों का निर्माण कराकर उनमें रत्नमय जिनबिंबों की स्थापना की पुन: "कल्पवृक्ष" नाम का बहुत बड़ा यज्ञ-पूजन किया। उन्होंने बड़े-बड़े घण्टे बनवाये, जिनमें जिनप्रतिमाएं बनी हुई थीं। बहुमूल्य रत्नों से निर्मित्त ये घण्टे स्वर्ण की सांकल-जंजीर से बंधे हुए थे, ऐसे चौबीस-चौबीस घण्टे बाहर के दरवाजे पर राजभवन के महाद्वार पर और गोपुर दरवाजों पर टंगवा दिये। जब वे चक्रवर्ती उन दरवाजों से बाहर निकलते थे, तब उन्हें उन घण्टों के देखते ही चौबीस तीर्थंकरों का स्मरण हो जाता था। तब वे उन

अरहंत देव की प्रतिमाओं को नमस्कार करते हैं। इस प्रकार पुण्य को बढ़ाने में तत्पर वे महाराज घर या नगर से बाहर निकलते ओर प्रवेश करते समय भी जिनप्रतिमाओं की भक्ति कर लेते थे। महाराज भरत स्वयं तीनों लोकों के चूड़ामणि थे, उनके मस्तक पर लगे हुए वे लोकप्रिय घंटे ऐसे शोभते थे मानो जिनेन्द्रदेव के चरणों की छाया ही हों। भरतेश्वर के द्वारा रत्नों के तोरणों में लगे हुए इन घंटों को देखकर लोगों ने भी उनको याद कर अपने-अपने दरवाजों के तोरणों की रचना में घंटा लगवाना प्रारंभ कर दिया था। लोगों ने अपने-अपने वैभव के अनुसार जिनप्रतिमा आदि से युक्त उन घंटों को बाँधकर उनकी भक्ति व नमस्कार करने लगे थे। उस समय भरत महाराज द्वारा चलाई गई वह सृष्टि आज भी बहुत घरों व मंदिरों के द्वार पर वंदनमालाओं के रूप में दिखाई दे रही है। चूँकि चक्रवर्ती ने वे मालाएं अरहंत देव की वंदना के लिए बनवाई थीं अतएव वे "वंदनमाला" इस नाम से पृथ्वी पर प्रसिद्ध हुई हैं। सो सत्य ही है क्योंकि "यथा राजा तथा प्रजा" यह लोकोक्ति है।

(३०)

चक्ररत्न के प्रभाव से अर्थ और काम-पुरुषार्थ को स्वाधीन कर वे चक्रवर्ती केवल धर्मपुरुषार्थ के करने में ही तत्पर रहते थे। वे प्रजा को श्रावक-धर्म का उपदेश देते रहते थे। उन्होंने कहा—

"हे भव्य श्रावकों! दान देना, पूजा करना, शील का पालन करना और पर्व के दिन उपवास करना आप लोगों के लिए यह चार प्रकार का धर्म माना गया है।"

वे स्वयं नवधाभक्ति पूर्वक सात गुणों से सहित होकर बड़े आदर से मुनियों को दान देते थे। सभी प्राणियों के लिए भोजन, औषधि और

अभयदान देते रहते थे क्योंकि दान के यही तीन प्रकार हैं। संसार में पूज्य पुरुषों की पूजा करने से स्वयं में पूज्यता आती है, ऐसा विचार कर भरत महाराज सतत् जिनेंद्रदेव की पूजा करते रहते थे। वे सदा शील की रक्षा करते थे, व्रतों का पालन करना शील कहलाता है, उन व्रतों को भावनाओं सहित यथायोग्य रीति से पालन करते हुए वे गृहस्थ में मुख्य गिने जाते हैं। पर्व के दिन उपवास की प्रतिज्ञा लेकर चित्त को स्थिर कर सामायिक करते हुए जिनमंदिर में ही रहते थे, उस समय वे ठीक मुनियों जैसी चर्या करते थे। उपवासपूर्वक मंदिर में ध्यान करने पर उनका चित्त स्थिर हो जाता था और अंग शिथिल हो जाने से उनकी अंगुलियों से अंगूठी आदि निकलकर नीचे गिर जाती थीं।

भरत महाराज प्रतिदिन प्रात: उठकर जिनेन्द्रदेव का स्मरण कर नित्यक्रिया से निवृत्त हो देव-गुरुओं की पूजन करके मांगलिक वेशभूषा धारण कर धर्मासन पर आरूढ़ होते थे, तब अर्थ और काम का विचार करते थे। अनंतर प्रजा के सदाचार-असदाचार का विचार करते हुए क्षणभर अधिकारियों को अपने-अपने कार्यों में नियुक्त करते थे। इसके बाद सभाभवन में जाकर राजसिंहासन पर बैठकर सेवा के लिए अवसर चाहने वाले राजाओं का सन्मान करते थे। भेंट लेकर आये हुए राजाओं को यथायोग्य प्रिय भाषण आदि से खुश करते थे और नृत्य दिखाने वाले कलाकारों को पुरस्कृत करते थे। अनंतर सभा विसर्जन कर घर आकर मुनियों की प्रतीक्षा कर आहार-दान देकर स्वयं भोजन करते थे। पश्चात् बैठक में बैठकर कुछ राजाओं के साथ अनेक विद्य-विद्याओं की चर्चा करते थे। इसके बाद अपनी प्रिय रानियों के बीच बैठकर उनके साथ संभाषण करते हुए हास्यपूर्ण चर्चाओं से उन्हें प्रसन्न करते थे। जब

दिन का चौथाई भाग शेष रह जाता था तब वे मणियों की भूमि में टहलते हुए राजमहल की शोभा देखते थे। रात्रि में भी अपने योग्य कार्य को करके वे सुखपूर्वक निद्रा प्राप्त करते थे।

यद्यपि ये चक्रवर्ती दिग्विजय के द्वारा समस्त भारतवर्ष को जीतकर कृतकृत्य हो चुके थे। तथापि नियोगवश कभी-कभी मंत्रियों से सलाह किया करते थे। ये भरत महाराज कभी-कभी अपने राजपुत्रों को राजनीति की शिक्षा दिया करते थे। वे कहते थे—

"हे पुत्रों ! सुनो, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चारों राजविद्याएं हैं।"

इनका विस्तार से वर्णन करके धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र भी पढ़ाते थे। कभी आयुर्वेद शास्त्र, व्याकरण, शब्दालंकार, छन्दशास्त्र पढ़ाते थे। तब लोग उन्हें मूर्तिमान् आयुर्वेद ही कहते थे। व्याकरण, अलंकार और छन्दशास्त्र के तो प्रतिबिम्ब ही माने जाते थे। निमित्त शास्त्र, शकुन ग्रंथ और ज्योतिष विद्या यह उन्हीं की सृष्टि मानी जाती थी।

"ये भरत महाराज सर्व शास्त्रों के अधिष्ठाता देव हैं, तंत्र-मंत्र में सर्वोपरि हैं, इनमें जो सर्व शास्त्रों का उत्तम ज्ञान और कला है, वे इन्हीं में हैं अन्यत्र नहीं।"

ऐसा कहकर प्रजा के बड़े-बड़े लोग उन्हें बहुत मान्यता देते थे। अधिक कहने से क्या? इतना ही कहना बस है कि वे भरत महाराज समस्त लोकाचार के सूत्रधार हो रहे थे।

एक दिन सभा के बीच सिंहासन पर बैठे हुए भरत महाराज एकत्रित हुए राजाओं और राजपुत्रों को क्षात्रधर्म का उपदेश देने लगे—

"हे क्षत्रियों में श्रेष्ठ महानुभावों ! आप लोगों को आदि ब्रह्मा

भगवान् ऋषभदेव ने प्रजा की रक्षा में नियुक्त किया है, सो आपका धर्म पाँच प्रकार का है—तुम्हारा धर्म कुल का पालन करना, बुद्धि का पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजा की रक्षा करना और सामञ्जस्यपना ये पाँच गुण तुम्हें सतत् धारण करना चाहिए।

आप क्षत्रियों का कुलाम्नाय कैसा है? सुनिए—जिन्होंने पूर्व भव में रत्नत्रय की आराधना कर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया, तत्पश्चात् सल्लेखना से शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र हो गये। वहाँ से च्युत हो इस भारतवर्ष में अवतार लेकर वर्णों में प्रथम वर्ण, जो क्षत्रिय वर्ण है, उसकी स्थापना की। देखो यहाँ कर्मभूमि के प्रारंभ में प्रजा दो प्रकार की थी। एक तो रक्षा करने में कुशल और दूसरी वह जिसकी रक्षा करनी चाहिए। जो प्रजा की रक्षा करने में तत्पर हैं, उन्हीं की वंश परम्परा को क्षत्रिय कहते हैं। यद्यपि यह वंश अनादिकाल की संतति से बीज-वृक्ष के समान अनादि कालीन है तथापि क्षेत्र और काल की अपेक्षा से उसकी सृष्टि भी होती है। विदेह क्षेत्रों में सदाकाल यह वंश परम्परा मौजूद रहती है किन्तु यहाँ भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में छह काल परिवर्तन के निमित्त से चौथे और पाँचवे काल में ही यह वर्ण रहता है।

आप क्षत्रियों का न्याय धर्म यह है कि धर्मनीति को न छोड़ कर धन कमाना, उसकी रक्षा करना, उसे बढ़ाना और योग्य पात्रों में उसका दान देना। इस प्रकार अपने वंश की रक्षा करना, अन्य किसी सम्प्रदाय को नहीं मानना यही 'कुलानु पालन' नाम का आपका प्रथम धर्म है।

इह लोक-परलोक संबंधी पदार्थों में हित-अहित का ज्ञान होना 'बुद्धि अनुपालन' नाम का धर्म है। मिथ्याज्ञान का नाम अविद्या है

इसको छोड़कर अर्हंतदेव द्वारा कथित तत्त्वों में बुद्धि को लगाना चाहिए। उनके द्वारा कथित बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा इन तीनों के स्वरूप को समझकर, अन्य देव-धर्म से दूर रहना ही अपनी बुद्धि की रक्षा करना यह दूसरा गुण है।

विष, शस्त्र आदि से अपनी रक्षा करना यह तीसरा गुण है। जीवन में राज्यसंचालन करते हुए अपनी रक्षा आवश्यक है। अनंतर राज्यभोग त्याग कर दीक्षा लेना ही आत्मरक्षा है। यही भगवान् ऋषभदेव द्वारा दिखलाई गई सनातन परम्परा है।

आत्म रक्षा में कुशल क्षत्रिय ही प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होते हैं, यह चौथा गुण है, जिस प्रकार ग्वाला गायों की रक्षा करता है, माता अपने पुत्रों की रक्षा करती है, वैसे ही क्षत्रिय राजा अपनी प्रजा की रक्षा करते हुए उसे अन्याय से हटाकर धर्म-कार्यों में लगाते हैं। चोर-डाकू आदि की आजीविका नष्ट कर दुष्टों का निग्रह करने वाले राजा ही शिष्ट प्रजा का पालन कर सकते हैं।

इस प्रकार दुष्टों का निग्रह और इष्टों का पालन ही राजा का सामंजसत्व गुण है। भले अपना पुत्र ही क्यों न हो यदि दुष्ट है तो उसका राजनीति के अनुसार निग्रह अवश्य करना चाहिए, इस प्रकार पुत्र, मित्र या अपनी स्त्री भी यदि अपने पथ च्युत हो चुके हैं, तो उन्हें भी यथोचित दंड देना या निकाल देना तभी तो प्रजा पर राजा का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार सब प्रजा और परिवार को एक समान समझकर उनके साथ समुचित न्याय करते हुए तत्पर रहना ही यह पाचवाँ गुण है। इस प्रकार क्षत्रियों को उनके धर्म का विस्तार से उपदेश दिया था।

ये चक्रवर्ती कभी-कभी अपनी रानियों के बीच में बैठकर उन्हें

गृहस्थाश्रम का उपदेश देते थे, उनको दान, पूजा, शील और उपवास इन चार क्रियाओं का उपदेश देकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उपदेश देते और सम्यक्त्व का महत्व बतलाकर कहते —

"हे कुलांगनाओं! सुनो, तुम लोग यदि स्त्री पर्याय से छूटकर आगे स्वर्ग को प्राप्त कर पुनः इस मृत्युलोक में पुरुष होकर सच्चा स्वाधीन मोक्षसुख प्राप्त करना चाहती हो तो सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से अपने जीवन को अलंकृत करो। यह रत्न तुम्हें इस जन्म में तो आत्मसुख का आनन्द प्राप्त करायेगा ही पुनः स्वर्ग में भी इन्द्रों के वैभव को या महर्द्धिक देवों के सुख को देकर परम्परा से निर्वाण सुख को प्राप्त करायेगा, यह निश्चित ही है।"

पतिदेव के मुस्कुराते हुए मुख-कमल से ऐसे अमृतमयी उपदेश को सुनकर चक्रवर्ती की वे रानियाँ बहुत ही प्रसन्न होती थीं और अपने भाग्य की सराहना करती हुई कहती थीं कि —

"वास्तव में हम लोगों का बहुत बड़ा पुण्य है, जो कि हम चक्रवर्ती की बल्लभायें हुई हैं और उन्हीं पतिदेव के मुख से धर्म का उपदेश सुनने को मिलता रहता है तथा अपने श्वसुर श्री भगवान् के चरण-कमलों की पूजा करने का व उनकी दिव्य ध्वनि को सुनने का भी अवसर पतिदेव के प्रसाद से मिलता रहता है।"

ऐसा विचार करती हुई वे रानियाँ भी एकत्रित हो दान, पूजा, शील और उपवास में अपनी शक्ति के अनुसार प्रवृत्ति करती थीं।

इस प्रकार भरत महाराज अपनी प्रजा को बत्तीस हजार मुकुटबद्ध से लेकर अन्य बहुत से छोटे-बड़े राजाओं को, अपने पुत्र-पुत्रियों को, सभी को धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ का उपदेश देते हुए उन्हें न्यायनीति में प्रवृत्त कराते रहते थे।

(३१)

महाराज अंकपन रत्नजटित सिंहासन पर आरूढ़ थे, वारांगनाएं चँवर ढुरा रही थीं। सभा का चारों तरफ का वातावरण अपनी शोभा से सौधर्म इन्द्र की सुधर्मा सभा की भी मानो हँसी उड़ा रहा था। इसी बीच में सुपुत्री सुलोचना कृश शरीर को धारण करती हुई हाथ में पूजा के शेषाक्षत को लेकर सन्मुख आई। महाराज अंकपन ने आसन से उठकर हाथ जोड़कर उसके द्वारा दिये हुए अक्षत को लेकर स्वयं अपने मस्तक पर रख लिया और कहा —

"पुत्री! तू उपवास से अतिशय खिन्न हो गई है अब घर जा यह तेरे पारणा का समय है।"

पुत्री पिता को प्रणाम कर चली गई। राजा कुछ क्षण विचार में निमग्न हो गये हैं। "अहो! इस कन्या की जिनभक्ति और सम्यग्दर्शन की विशुद्धि कितनी विशेष है। इसने विशाल जिनमंदिर में बहुत-सी रत्नमयी जिनप्रतिमाएं विराजमान कराई हैं और उनके सुवर्णमयी उपकरण बनवाये हैं। जिनबिंबों की प्रतिष्ठा-विधि कराई है और नित्य उनकी पूजा किया करती है। अभी फाल्गुन के अष्टान्हिकापर्व में इसी ने विधिवत् पूजन विधान व उपवास का अनुष्ठान किया है। यह सतत् जिनपूजा व पात्र-दान आदि उत्तम कार्यों में ही तत्पर रहती है। अब यह पूर्ण यौवन को प्राप्त हो चुकी है अतः इसका इसी के अनुरूप वर के साथ विवाह-संबंध कर देना चाहिए जिससे गृहस्थ धर्म की परम्परा अक्षुणय रूप से चलती रहे।

पुनः अपने मंत्रियों को बुलाकर कहा — "मंत्रियों! हमारे कुल के प्राणस्वरूप इस कन्या के लिए सभी राजा लोग प्रार्थना कर रहे हैं अतः यह कन्या किसको दी जावे?"

पहले श्रुसार्थ मंत्री ने कहा—

"महाराज! कुल, वय, विद्या, बुद्धि आदि से विशिष्ट चक्रवर्ती भरत के पुत्र अर्ककीर्ति को आप अपनी कन्या देते हों तो बड़े जनों के साथ संबंध हो जाने से आप भी महान् पूज्यता को प्राप्त होंगे।"

सिद्धार्थ मंत्री ने कहा—

"व्यवहार में कुशल लोग यही कहते हैं कि छोटे लोगों का बड़ों के साथ संबंध होना अच्छा नहीं रहता अतः अपने बराबर वालों के साथ ही संबंध करना चाहिए। देखिए! मेघेश्वर, प्रभंजन आदि अनेकों राजपुत्र हैं जो एक से एक वैभवशाली हैं। इसी बीच में सर्वार्थमंत्री बोल उठे—

"राजन् ! भूमिगोचरी राजाओं के साथ तो हम लोगों का संबंध पहले से ही विद्यमान है अतः इस कन्या को विद्याधर राजाओं में से किसी को देनी चाहिए।"

अनेक ऊहापोह के अनंतर सुमति मंत्री कहने लगे—

"महाराज! ये सब बातें शत्रुता उत्पन्न करने वाली हैं। यदि आप विद्याधर को कन्या देंगे तो चक्रवर्ती क्या कहेंगे? " क्या भूमिगोचरियों में इसके योग्य कोई वर नहीं था?" अनेक राजाओं द्वारा याचना हो रही है। उनमें से आप किसी एक को ही तो कन्या देंगे—तब अन्य राजा अवश्य आपके विरोधी हो जावेंगे.....। मेरी समझ में तो प्राचीन पुराणों में स्वयंवर की उत्तम विधि सुनी जाती है। यदि सर्वप्रथम आप पूज्यश्री के द्वारा वह विधि प्रारंभ कर दी जाये तो भगवान् ऋषभदेव और सम्राट भरत के समान आपकी भी प्रसिद्धि युग के अंत तक हो जायेगी।" उस स्वयंवर में यह कन्या जिसका वरण करे ठीक है। तब पुनः आपका किसी के साथ विरोध होने का प्रसंग नहीं उठेगा......।"

महाराज को यह बात जच गई। मंत्रियों को विदा कर वे राजमहल में पहुँचे। महारानी सुप्रभा, पुत्र हेमांगद व वृद्ध पुरुषों से विचार-विमर्श करके स्वयंवर के लिए निर्णय कर लिया पुनः सर्वत्र देशों में राजाओं के पास दूतों द्वारा आमंत्रण पत्रिका भेज दी। इसी बीच एक देव आकर कहने लगा—

"महाराजा, मैं पूर्व भव में आपका भाई था। इस समय सौधर्म स्वर्ग से आ रहा हूँ, मेरा नाम विचित्रांमद है। मैं इस पुन्यवर्ती सुलोचना के स्वयंवर को देखने के लिए आया हूँ।"

"पुनः महाराज की आज्ञानुसार उसने उत्तर दिशा की ओर एक अत्यन्त विशाल सर्वतोभद्र नाम का राजभवन बनाया। वह कई खंडों का था और सर्वत्र मंगल द्रव्यों से भरा हुआ था। उस राजभवन के चारों तरफ "स्वयंवर भवन" का निर्माण किया। उसके चारों तरफ गोपुरद्वार, रत्नों के तोरण, पताकाओं की पंक्तियाँ, शिखरों पर चमकते हुए सुवर्ण कलश, ये सब अपनी अद्वितीय शोभा से वाराणसी नगरी को स्वर्गपुरी ही बना रहे थे। वहाँ का धरातल नीलमणियों से जड़ा हुआ था और छतों मे अनेक वर्ण के रत्नों से जटित चंदोवे चारों तरफ अपनी आभा बिखेर रहे थे।

जिस स्वयंवर मण्डप का निर्माण करने वाला विचित्रांगद देव स्वयं शिल्पी है उसकी शोभा का वर्णन कौन कर सकता है? चारों तरफ से बजने वाले वाद्यों ने मानो कुछ ही दिनों में चारों तरफ के बड़े-बड़े राजपुत्रों को वहाँ बुला लिया था। महाराजा भरत के सुपुत्र अर्ककीर्ति भी स्वयं अनेक बंधु वर्गों के साथ असीम वैभव को लेकर वहाँ पधारे थे। महाराज अकंपन किन्हीं को स्वयं आगे होकर स्वागत करके लाये थे, किन्हीं को लाने के लिए मंत्री आदि को भेजा था। यथोचित् प्रकार से

सभी राजाओं का स्वागत करके उन्हें यथोचित भवनों में ठहराया गया। उस समय "समुद्र अपने रत्नाकारपने का खोटा अहंकार व्यर्थ ही धारण करता है। वास्तव में राजा अकंपन और रानी सुप्रभा ही सच्चे रत्नाकार हैं क्योंकि कन्यारत्न के सिवाय और कोई उत्तमरत्न नहीं है?" ऐसा सभी लोग कह रहे थे।

पुनः श्रेष्ठ मुहूर्त में राजा अकंपन ने जिनेन्द्र देव की महापूजा कराई। महारानी सुप्रभा ने कन्या को सुवर्ण के पाटे पर बिठा कर मंगल स्नान कराया। मांगलिक वस्त्रालंकारों से सुसज्जित करके नित्य मनोहर "चैत्यालय" में ले जाकर उसे विधिवत् अर्हन्त देव की पूजा कराई। राजा अकंपन स्वयं ही आकर स्वयंवर मण्डप में योग्य आसन पर विराजमान हो गये, उसी समय महेन्द्रदत्त नाम का कंचुकी चित्रांगद देव के द्वारा दिये गये अतिशयी अलंकारों से अलंकृत रथ पर सुलोचना को बिठाकर स्वयंवर मण्डप की ओर चल पड़ता है। साथ में हेमांगद कुमार आदि राजपुत्र अपने छोटे भाईयों व सेना के साथ बहन सुलोचना के रथ के चारों तरफ चल रहे थे।

कुछ ही क्षण में रथ स्वयंवर शाला में प्रवेश करता है। रथ पर बैठी हुई सुलोचना के ऊपर छत्र लगा हुआ है, जो सूर्य के प्रताप को रोकने में समर्थ है। आजू-बाजू में खड़ी हुई सखियाँ चमर ढुरा रही हैं। उसके शरीर की कांति से अनेक प्रकार के रत्नों के आभूषण भी लज्जा को प्राप्त हो रहे हैं। रत्नों की माला को हाथ में लिए हुए कंचुकी रथ की धुरा पर बैठा हुआ है.....धीरे-धीरे रथ स्वयंवर मण्डप में चल रहा है और कंचुकी निम्न प्रकार से राजाओं का परिचय देता जा रहा है —

"कुमारिके! देखिये ये विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी के राजा नमि के

पुत्र सुनमि और उत्तर श्रेणी के राजा विनमि के पुत्र सुविनमि हैं। इनमें से तू किन्हीं एक को अपने पति रूप में वरण कर।"

सुलोचना कन्या जिन राजपुत्रों के सन्मुख से निकल जाती थी, वे अपने भाग्य को कोस कर रह जाते थे। आगे बढ़ते-बढ़ते वह रथ विद्याधरों की ऊँची भूमि से उतर कर नीचे भूमि गोचरियों की ओर बढ़ रहा था पुनः कंचुकी ने क्रम-क्रम से राजाओं का परिचय देते हुए कहा—

"सम्राट भरत के सबसे बड़े पुत्र कुलतिलक ये युवराज अर्ककीर्ति हैं और ये हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के सुपुत्र जयकुमार हैं......।" इतना कहते ही सुलोचना की दृष्टि जयकुमार पर पड़ी, ऐसा देखते ही कंचुकी घोड़ों की रास थाम लेता है और कहता ही चला जाता है —

"इन्होंने चक्रवर्ती भरत महाराज के दिग्विजय के प्रसंग में उत्तर भारत में मेघ कुमार नाम के देवों को जीतकर उन देवों के कृत्रिम बादलों की गर्जना को जीतने वाला सिंहनाद किया था। उस समय निधियों के स्वामी राजा भरत ने हर्षित होकर अपनी भुजाओं द्वारा धारण किया जाने वाला "वीरपट्ट" इन्हें बाँधा था और "मेघस्वर" इनका नाम रखा था। यह भी एक आश्चर्य की बात है कि इन जयकुमार के गुण तीनों लोकों को प्रसन्न कर अब तेरे अन्तःकरण को अनुरक्त करने के लिए ही पूर्णरूप से वापस लौटे हैं। इन्होंने दिग्विजय में अनेक देवों व राजाओं को जीतकर "जयकुमार" अपना नाम सार्थक कर दिया है और अब तुझे जीतने के लिए धैर्य रहित से हो रहे हैं.....।"

उस समय जन्मांतर का स्नेह जिसे प्रेरित कर रहा था, ऐसी सुलोचना जयकुमार के सुन्दर आकार को देखती हुई, कुन्द पुष्प के समान उसके गुणों को सुनती हुई रथ से नीचे उतरती है और कंचुकी के

हाथ से रत्नमाला लेकर अतिशय प्रेम में निमग्न होकर उस मनोहर माला को जयकुमार के गले में डाल देती है, उसी समय अकस्मात् सर्व बाजों की बड़ी भारी ध्वनि हो उठती है, जिससे ऐसा मालूम होता है कि दशो दिशाएं भी बाजों की प्रतिध्वनि के बहाने सुलोचना के वर के चयन के असाधारण उत्सव को ही मना रही है। नाथवंश के अधिपति राजा अंकपन हर्ष से रोमांचित हो उठे–कल्पलता से युक्त कल्पवृक्ष के समान, पुत्री से युक्त जयकुमार को आगे कर अतीत वैभव के साथ नगर में प्रवेश किया।

दुर्मर्षण नाम का एक पुरुष था जो अर्ककीर्ति राजकुमार का सेवक था वह इसी बीच उत्तेजित होकर आया और कहने लगा—

"हे नर पुंगव! इस भरत क्षेत्र के छह खण्डों में उत्पन्न हुए रत्नों के दो ही स्वामी हैं एक आप और दूसरे आपके पिता। रत्नों में कन्या ही रत्न है और कन्याओं में भी यह सुलोचना ही उत्तम रत्न है। इसलिए राजा अकंपन ने आपके अपमान के लिए ही शायद इस स्वयंवर विधि से यहाँ बुलाया है। यह उसकी धृष्टता और दुष्टता ही है कि जो आप जैसे चक्रवर्ती के पुत्र को छोड़कर उनके सेवक सेनापति के गले में माला डलवाई है। अहो! जब नीच लोग भी मान–भंग के अपमान को नहीं सहते हैं, तो आप जैसे तेजस्वी को तो कथमपि सहन नहीं करना है अतः हे देव! आप मुझे आज्ञा दीजिए, मैं आपकी आज्ञामात्र से इस अकंपन को यम के घर पहुँचाकर माला सहित वह कन्या आपके समीप ला सकता हूँ।"

इस प्रकार उसने अर्ककीर्ति कुमार को क्रोध से उत्तेजित कर दिया, तभी उनके राजा और राजपुत्र भी उनके समीप आ गये। उसी

समय एक अनवद्यमति नाम के मंत्री ने अर्ककीर्ति कुमार को समझाना शुरू किया—

"हे श्रेष्ठ पुरुष! आप कुछ क्षण शान्त हो मेरे वचन सुनिये। देखिये—पृथ्वी, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र, वायु, अग्नि, आप, आपके पिता भरत सम्राट्, मेघ और काल ये सब पदार्थ संसार में कल्याण करने वाले हैं, इनमें से आपके या किसी के उलट–पुलट होने से संसार की सृष्टि ही उलट, पुलट हो जावेगी। चूँकि यह सृष्टि आप लोगों पर ही अवलम्बित है। हाँ, पृथ्वी आदि वस्तुएं तो कभी अपनी मर्यादा छोड़ सकते हैं किन्तु आप और आपके पिता भला मर्यादा से कैसे च्युत हो सकते हैं। तुम्हारे पितामह भगवान् ऋषभदेव ने कर्मभूमिरूपी सृष्टि की रचना की है। उन्होंने बड़े पुत्र भरत को सौंपा है और आगे सम्राट् भरत के द्वारा यह आपको ही सौंपी जायेगी। चूँकि आप उनके बड़े पुत्र हैं, विवाह विधि में यह स्वयंवर विधि ही सर्वश्रेष्ठ है यह शास्त्रों में आया हुआ स्वयंवर सनातन–प्राचीन है। अब यह कन्या जबरन हरण की जाने पर भी आपकी नहीं हो सकती है। चूँकि यह परस्त्री हो गई है अतः न्याय मार्ग का उल्लंघन करना आपके लिए कथमपि उचित नहीं है। इस सुलोचना के अतिरिक्त भरत क्षेत्र में अनेक राजाओं के यहाँ कन्यारत्न हैं मैं उन सबको आपके लिए लाकर देता हूँ अतः हे देव! प्रसन्न हो और इस अर्ककीर्ति के कारण ऐसे युद्ध से विरक्त होओ।"

इतना सब कुछ समझाने पर भी "बुद्धि कर्मानुस्तरिणी' इस सूक्ति के अनुसार वह अर्ककीर्ति शान्त नहीं हुआ, प्रत्युत और भी भड़क उठा। उसने कहा—

"यह अकंपन का कुछ गूढ़ षड़यंत्र पहले से ही सुनियोजित था

तभी इसने जयकुमार के गले में माला डलवाई है। मैं सुलोचना का इच्छुक नहीं हूँ क्योंकि अभी मेरे बाणों से जयकुमार मृत्यु को प्राप्त हो जावेगा, तब पुनः उस विधवा से मुझे क्या प्रयोजन? मैं तो केवल उसकी मायाचारी का विस्फोट कर इसे परलोक पहुँचाऊँगा और न्याय-नीति की रक्षा करूँगा।''

इत्यादि प्रकार से कहते हुए उसने सेनापति को बुलाकर अपनी सेना को युद्ध के लिए तैयार होने की आज्ञा दी और युद्ध की सूचक भेरी बजवा दी। अनेक ईर्ष्यालु राजा इस अर्ककीर्ति के साथ आ मिले।

यह युद्ध भेरी और चक्रवर्ती का कोप विदित करते ही महाराजा अकंपन घबड़ा गये।

''ओह! यह क्या हुआ? अकस्मात् यह कैसा संकट आ पड़ा?

ऐसा विचार कर और जयकुमार से परामर्श कर राजा अकंपन ने एक चतुर और शीघ्रगामी दूत राजपुत्र अर्ककीर्ति के पास भेजा, किन्तु दूत ने आकर बताया—

''राजन् ! वे अर्ककीर्ति क्रोध की सीमा पार पहुँच चुके हैं और विजयघोष नामक हाथी पर चढ़कर युद्ध के लिए मैदान में आ चुके हैं।''

इतना सुनकर जयकुमार ने क्रुद्ध हो महाराजा अकंपन से कहा—

''हे माम! आप सुलोचना की रक्षा करते हुए यहीं रहिए मैं इस अर्ककीर्ति को ''कृष्णकीर्ति'' किये देता हूँ। आप मुझे युद्ध की आज्ञा दीजिए।''

राजा अकंपन से स्वीकृति प्राप्त कर जयकुमार ने भी मेघ कुमारों को जीतने से प्राप्त हुई, ऐसी मेघघोषां नाम की भेरी भजवा दी और अपने साथ अनेक राजा तथा सुलोचना के भाई और विशाल सेना को लेकर युद्ध के लिए मैदान में आ गये।

इस समय इन दोनों सेनाओं में इतना भयंकर युद्ध हुआ कि जो प्रलय काल के समान था। इस युग में स्त्री के लिए यह पहला ही युद्ध था। अनंतर बहुत-सी सेना का नाश हो जाने के बाद जयकुमर और अर्ककीर्ति आपस में लड़ने लगे। बहुत प्रयत्न के बाद जयकुमार ने अर्ककीर्ति को जीवित ही पकड़ लिया और अपने रथ में डालकर स्वयं एक हाथी पर आरूढ़ होकर सिंह के समान पराक्रमी जयकुमार राजा अकंपन के पास आ गये।

''अहो! इस अर्ककीर्ति का लोकोत्तर वंश था चक्रवर्ती भरत पिता थे, युवराज पद था और भारी सेना का समूह उसके पास था, तो भी उसकी यह दशा हुई। इससे कहना पड़ता है कि अन्याय पुरुष को ऐसा ही तिरस्कार प्राप्त कराता है।''

इस प्रकार उसी क्षण सुलोचना संबंधी युद्ध के शांत होते ही आकाश से देवों ने पाँच प्रकार के कल्पवृक्षों के फूलों की वर्षा की। उस समय अर्ककीर्ति को जीतने से जयकुमार को अहंकार नहीं हुआ था प्रत्युत लज्जा ने ही उसे आ घेरा था। इसके बाद जयकुमार ने युद्धभूमि में जाकर अनेक राजाओं और सैनिकों को मृतक देखा व बहुतों को घायल देखा। मृतकों की मृतक क्रिया करवाई और घायलों को उपचार हेतु चिकित्सकों के सुपुर्द किया।

इधर राजा अकंपन ने अनेक कुशल राजाओं को साथ में लेकर कुमार अर्ककीर्ति को नाना प्रकार से समझाकर उन्हें उनके स्थान पर पहुंचाया। अनंतर बोले—

''अरहंत देव के प्रसाद से ही सर्वविघ्नों का नाश होता है अतः आओ, हम लोग पहले जिनवंदना करने के लिए चलें।''

ऐसा कहकर अनेक राजाओं के साथ ''नित्य मनोहर'' नाम के

चैत्यालय में पहुँचे और अपनी-अपनी सवारियों से उतरकर मंदिर में प्रवेश कर प्रदक्षिणाएं देकर अनेक स्तुतियों से जिनेन्द्रदेव की स्तुति की। जयकुमार भी भगवान् की स्तुति करते हुए बोले —

"हे भगवन् ! आपके चरणों की भक्ति से समस्त अमंगल व विघ्न शांत हो जाते हैं तथा सर्वमनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। जैसे पवित्र सीप के संपुट में पड़ी हुई पानी की एक बूंद भी मोती का रूप धारणकर लेती है।"

इत्यादि प्रकार से ये सर्व महापुरुष भगवान् की स्तुति-भक्ति में तत्पर हो गये। तभी आगे बढ़कर महाराज अकंपन ने देखा कि सुलोचना इस उपद्रव के टलने तक चतुराहार का त्याग कर यहाँ जिनप्रतिमा के सन्मुख हाथ जोड़कर कायोत्सर्ग से खड़ी हैं और माता सुप्रभा उसी के पास बैठी हुई महामंत्र जप रही है। तब महाराज ने कहा —

"हे पुत्री ! तुम्हारी जिनभक्ति के प्रसाद से सर्व अमंगल शांत हो गये हैं अत: तुम अब अपने नियम का संकोच करो।"

पिता के ऐसे वचन सुनकर सुलोचना ने कायोत्सर्ग समाप्त कर पृथ्वी पर मस्तक टेककर जिनेन्द्रदेव को बारम्बार नमस्कार किया। इसके बाद राजा अकंपन अपनी प्रिय सुपुत्री सुलोचना और पुत्रों को तथा सर्व परिजनों को साथ लेकर जिनमंदिर से बाहर आये और राजभवन में आकर सुलोचना से बोले —

"पुत्री ! तू अपने महल में जाकर पारणा कर।"

अनंतर मंत्रियों से सलाह कर विद्याधर आदि राजाओं को यथायोग्य दान, मान आदि से सम्मानित कर उनके स्थान पर जाने के लिए उन्हें विदा कर पुन: अर्ककीर्ति से बोले —

"हे कुमार ! हमारे नाथवंश और सोमवंश दोनों ही आपके द्वारा

बनाये गये हैं और आपके द्वारा ही बढ़ रहे हैं। विष का वृक्ष भी जिसके द्वारा उत्पन्न होता है और उससे फिर नाश को प्राप्त नहीं होता है। महापुरुष पुत्र, बंधु और पियादे लोगों के सैकड़ों अपराध क्षमा कर देते हैं क्योंकि उनकी शोभा इसी में हैं। हम मूर्खों ने आपका यह एक अपराध किया है, चूँकि हम लोग आपके भाइयों और भृत्यों में से हैं। इसलिए हे कुमार ! हमारा यह अपराध आप क्षमा कीजिए। हे वीर पुरुष ! यह सुलोचना कितनी सी बात है? हमारा जो सर्वस्व है वह आपका ही है। यदि आप पहले ही रोक देते तो स्वयंवर ही क्यों किया जाता? फिर भी जो होनी थी वो हो गई। अब मेरी दूसरी पुत्री अक्षमाला को आप ग्रहण कीजिए। जैसे भोजन के बिना कोई जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार हम लोग आपकी प्रसन्नता के बिना जीवित नहीं रह सकते अत: आप हम लोगों पर प्रसन्न होइये।"

इत्यादि प्रकार के मधुर शब्दों से अर्ककीर्ति को प्रसन्न कर जयकुमार के साथ दोनों की अखण्ड मित्रता करा दी। इसके बाद सर्व पापों की शांति के लिए अकंपन महाराज ने आठ दिन तक बड़ी विभूति के साथ जिन मंदिर में महाभिषेक पूर्वक शांति पूजा की। अनंतर अर्ककीर्ति के साथ शुभमुहूर्त में अक्षमाला का विवाह सम्पन्न कर उन्हें बहुत-सी रत्न आदि वस्तुएं भेंट में देकर बड़े वैभव के साथ उन्हें विदाई दी।

उसी समय विचित्रांगद देव ने आकर बड़े वैभव के साथ सुलोचना का विवाह सम्पन्न कराया। इसके बाद राजा ने बहुत से भूमिगोचरी आदि राजाओं को भी यथायोग्य रत्न, वाहन आदि भेंट देकर सत्कारपूर्वक सबको विदा कर दिया और कुछ दिन के लिए जमाई जयकुमार को अपने ही घर पर रोक लिया।

(३२)

नाथवंश के शिरोमणि अतिशय बुद्धिमान अकंपन महाराज ने अपने जमाई जयकुमार के साथ सलाह कर अपने घर के एक कुशल दूत को बुलाकर उत्तम-उत्तम रत्न एक पिटारी में भेंट के लिए देकर कहा—

"हे दूत! तू सर्व समाचार जानता है अतः जिस प्रकार चक्रवर्ती हम लोगों पर प्रसन्न हों, ऐसा कार्य तुझे करना है। तुम यह भेंट लेकर अयोध्या जाकर कार्य की सिद्धि करके आ।"

ऐसा आदेश पाकर सिर से प्रणाम कर वह दूत अयोध्या पहुँचा और चक्रवर्ती के समक्ष भेंट रखकर अष्टांग नमस्कार करके पुनः हाथ जोड़कर बोला—

"हे देव! बनारस नगरी का अंकपन नाम का राजा आपको साष्टांग प्रणाम कर भय से आपसे इस प्रकार प्रार्थना करता है, सो प्रसन्नता कीजिए और उसे सुनिये।"

भरत महाराज की प्रसन्नमुख मुद्रा देखकर और संकेत पाकर वह अकंपन राजा के शब्दों में कहने लगा—

"हे देव! सुलोचना नाम की मेरी एक उत्तम कन्या थी। उसने स्वयंवर विधि में जयकुमार के गले में माला डाल दी। कुमार अर्ककीर्ति भी अनेक राजाओं के साथ यहाँ स्वयंवर मंडप में प्रसन्नचित्त विराजमान थे किन्तु जैसे कोई दुष्टग्रह शुभग्रहों को भी दुष्ट कर देता है वैसे ही किसी दुष्ट ने हम लोगों पर उन्हें व्यर्थ ही क्रोधित कर दिया। इसके बाद वहाँ जो कुछ हुआ सो सब आपको विदित ही है क्योंकि गुप्तचरों द्वारा जब साधारण राजा भी सब समाचार विदित कर लेते हैं तब आप तो अवधिज्ञानी हैं। भला आप क्या नहीं जानते हैं? हे चक्रवर्तिन् ! जब

देवता कुपित हो जाते हैं तब उसमें आराधना करने वाले का ही दोष समझा जाता है न कि देवता का अतः हम लोगों से जो यह अपराध बन गया है,सो उसके लिए हम लोग किस दण्ड के पात्र हैं? क्या फांसी? यह शरीर क्लेश? या धनहरण? हे देव! आपकी आज्ञा पालन कर हम लोग प्रसन्न होंगे। क्योंकि प्रजा के लिए न्यायनीति और दण्डविधान तो आपने ही चलाया है।"

इत्यादि प्रकार से दूत के मुख से राजा अकंपन के नम्रता भरे वचन सुनकर शांतचित्त भरत प्रफुल्लता से युक्त हो दूत को अपने पास बुलाकर सिंहासन के निकट बिठाकर बोले—

"हे भद्र! महाराज अंकपन ने इस प्रकार कहकर आपको क्यों भेजा है? वे तो हमारे पिता के तुल्य हैं और इस समय हम सभी में ज्येष्ठ हैं। गृहस्थाश्रम में तो मेरे वे ही पूज्य हैं, उन्हीं से तो मैं भाई-बंधु वाला हूँ और की क्या बात? अन्याय मार्ग में प्रवृत्ति करने पर वे मुझे भी रोकने वाले हैं। इस युग में मोक्षमार्ग चलाने के लिए जैसे भगवान् ऋषभदेव गुरु हैं, दान की परम्परा चलाने से राजा श्रेयांस गुरु हैं और चक्रवर्तियों की वृत्ति चलाने में मैं मुख्य हूँ, उसी प्रकार स्वयंवर की विधि चलाने के लिए राजा अकंपन ही गुरु हैं। यद्यपि यह मार्ग अनादिकाल का था तो भी इस युग में भोगभूमि से छिपे हुए प्राचीन मार्गों को जो नवीन कर देते हैं, वे सत्पुरुष ही सज्जनों द्वारा पूज्य माने जाते हैं। देखो! मेरा चक्रवर्तिपना रत्नों से, निधियों से, पडंग सेना से या पुत्रादिकों से नहीं मिला है, प्रत्युत जयकुमार सेनापति से मिला है। दण्डरत्न से विजयार्ध पर्वत की गुफा के द्वार को खोलना, म्लेच्छों को जीतना आदि उनके कार्य पराक्रम से भरे हुए हैं। इसे अर्ककीर्ति ने तो अकीर्तियों मे गिनने योग्य मेरी अकीर्ति ही

कराई है। जैसे दीपक से काजल उत्पन्न होता है, ऐसे ही यह मेरे से उत्पन्न हुआ है। जयकुमार ने युद्ध में बाँधकर उसे अच्छा दण्ड दिया है और तो क्या अपना बड़ा पुत्र भी न्याय मार्ग का उल्लंघन करे तो वह दण्ड का पात्र है। ऐसी नीति चलाने को मैं तैयार बैठा हूँ। आप लोगों ने विचार किये बिना ही उस अभिमानी के लिए अक्षमाला कन्या देकर अर्ककीर्ति की भी पूज्यता प्राप्त करा दी है सो ठीक है। क्योंकि ‘‘यह कलंक सहित हैं’’ यह समझकर क्या चन्द्रमा की मूर्ति छोड़ी जाती है। परन्तु चक्रवर्ती अपराध करने पर भी अपने पुत्र की उपेक्षा कर दी, यह मेरा अपयश अकंपन राजा ने स्थायी बना दिया है।’’

इत्यादि प्रकार से चक्रवर्ती ने सुमुख दूत को संतुष्ट कर विदा किया और ज्येष्ठ पुत्र को छोड़कर न्याय को ही अपना औरस पुत्र बनाया। दूत ने वापस आकर राजा अकंपन और जयकुमार को जब ऐसा समाचार सुनाया तब ये दोनों प्रसन्न हो गद्गद वाणी में बोले —

‘‘अहो! महापुरुषों की महानता ऐसी ही होती है।’’

बनारस में रहते हुए जयकुमार का कुछ काल जब व्यतीत हो गया, तब एक दिन हस्तिनापुर से एक मंत्री ने आकर जयकुमार को पिता सोमप्रभ द्वारा प्रेषित गूढ़ अर्थ से भरे हुए पत्र को दिया। माता-पिता को स्मरण कर और पत्र को पढ़कर जयकुमार अपने शहर जाने को उत्सुक हो गये और श्वसुर अकंपन महाराज से आज्ञा माँगी। यद्यपि राजा जयकुमार का वियोग नहीं चाहते थे फिर भी उन्हें स्वीकृति देनी पड़ी। तब उन्होंने शुभ मुहूर्त में अनेक रत्न, वाहन, सामग्री आदि भेंट में देकर सुलोचना को प्रिय मधुर शब्दों में शिक्षा देकर पुत्र के साथ जयकुमार को विदाई दी। सुलोचना भी माता-पिता के वियोग के दुःख को मन में ही दबाकर

ससुराल जाने के लिए विजयार्ध नाम के हाथी पर अपने पति के साथ बैठ गई। साथ में हाथियों पर सवार हो हेमांगद कुमार आदि भाई भी सुलोचना के साथ चल रहे थे।

इस प्रकार जयकुमार विशाल सेना और परिकर तथा प्रिय भार्या के साथ अनेक मुकाम करते हुए अयोध्या नगर के निकट आ गये। करोड़ों तम्बुओं में प्रमुख-प्रमुख लोग ठहराये गये। सुलोचना को समझाकर भाई हेमांगद आदि के साथ वही कपड़े से निर्मित राजभवन में रोककर आप स्वयं कुछ आप्त पुरुषों के साथ अयोध्या नगरी में प्रवेश किया। समाचार सुनते ही अर्ककीर्ति आदि अच्छे-अच्छे पुरुषों ने उनका स्वागत किया। राजभवन के बाह्य दरवाजे पर पहुँचकर जयकुमार हाथी से उतर कर सभागृह में पहुँचे। भरत महाराज अनेक राजाओं के मध्य वहाँ सुशोभित हो रहे थे। इंद्र के समान उन राजराजेश्वर को देखकर जयकुमार ने तीर्थंकर की तरह उन्हें अष्टांग नमस्कार किया। महाराज भरत ने भी हाथ फैलाकर उसका सम्मान किया और अपने हाथ से संकेत कर निकटवर्ती आसन पर बैठाकर प्रसन्न दृष्टि से अलंकृत किया। उस समय संतुष्ट हुआ जयकुमार सभा में विलक्षण तेज से शोभ रहा था। तदनंतर सम्राट ने मुस्कुराते हुए देखा —

‘‘जयकुमार! तुम बहू को क्यों नहीं लाये? हम तो उसे देखने के लिए बहुत ही उत्सुक थे। इस नवीन विवाह के उपलक्ष्य में भला तुमने हमें क्यों नहीं बुलाया। क्या महाराज अकंपन ने अपने भाई-बंधुओं से हमको अलग कर दिया? अरे! मैं तो तुम्हारे पिता के तुल्य था। तुम्हें मुझे आगे कर सुलोचना के साथ विवाह करना चाहिए था, परन्तु तुम यह सब भूल गये।’’

हँसते हुए चक्रवर्ती के मुखारविंद से इन वचनों को सुनकर जयकुमार ने लज्जा से अपना मस्तक नीचा कर लिया। तत्पश्चात् भक्ति को प्रगट करता हुआ अपराधी के समान मणिकुट्टिम जमीन को देखते हुए हाथ जोड़कर खड़े होकर निवेदन करने लगा—

"हे देव! आपके आज्ञाकारी काशी नरेश ने वह प्राचीन स्वयंवर विधि प्रचलित की। परन्तु मेरे दैव ने उसे उल्टा कर दिया, फिर भी जिनेन्द्रदेव के प्रसाद से मेरा मूल सहित नाश करने वाला वह युद्ध शांत हो गया इसलिए यह सेवक आपके चरणों में आया है। हे चक्राधिपते! सर्व विद्याधर और सर्व राजा गण आपके चरण-कमलों के भ्रमर हैं, फिर भला मैं उन सब में कौन हूँ? हे देव! जो दूसरे साधारण पुरुषों को न प्राप्त हो सके, ऐसा मेरा सम्मान करते हुए आपने मुझे ऋणी बना दिया है, सो क्या कभी मैं भी इस ऋण से छूट सकता हूँ? हे स्वामिन! ये नाथवंश और चंद्रवंश रूपी अंकुर भगवान् आदिनाथ के द्वारा उत्पन्न किये गये थे एवं आपके द्वारा वर्धित तथा पालित होकर जब तक पृथ्वी है तब तक के लिए स्थिर कर दिये गये हैं।"

इत्यादि प्रकार से जयकुमार की विनम्र वाणी से संतुष्ट हुए भरत ने जयकुमार का भोजन, वस्त्र आदि से बहुत कुछ सत्कार किया। अनंतर जयकुमार को सुलोचना आदि के योग्य अनेक वस्त्राभूषण, अलंकार आदि देकर उसे विदा किया। जयकुमार भी पृथ्वी पर सर्वांग डालकर नमस्कार करके वापस आने को उद्यत हो अपने ऊँचे हाथी पर बैठकर गंगा के किनारे आ गये। वहाँ पर सूखे वृक्ष की डाली के अग्रभाग पर सूर्य की ओर मुख कर रोते हुए कौए को देखकर कुछ अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो उठे। मुख की आकृति देख पुरोहित ने कहा—

" हे युवराज! सुलोचना सकुशल है आप चिंता न करें इस शकुन से यही सूचित होता है कि हम लोगों को जल से कुछ भय होगा।"

इतना सुनकर जयकुमार शांतचत्ति हो गंगा नदी के उस पार बैठी सुलोचना से मिलने की उत्कंठा में शीघ्र ही आगे बढ़े और गंगा में अघाट में ही हाथी उतार दिया। वह हाथी पानी में चलने लगा। वह सूँड को ऊपर उठाकर दांत बाहर निकाले हुए गंडस्थल को पानी के ऊपर करके चला जा रहा था। इस प्रकार वह हाथी तैरता हुआ एक गड्ढे के बीच जा पहुँचा, उसी समय एक काली देवी ने मगर का रूप धर कर उस हाथी को पकड़ लिया, वह जगह सरयू गंगा नदी से मिलती थी। यद्यपि वह देवी क्षुद्र थी, फिर भी 'अपने देश में क्षुद्र भी बलवान् हो जाते हैं" इस नीति के अनुसार उस समय वह हाथी डूबने लगा।

उस तट पर जयकुमार की प्रतीक्षा में खड़े हुए सुलोचना, हेमांगद आदि इस दृश्य को देखकर घबराये। सुलोचना ने हाथी को गड्ढे में घुसते देख पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण किया और वह भी पानी में उतर पड़ी। साथ में उसके भाई हेमागंद आदि उसी गड्ढे में घुसने लगे। सुलोचना ने अर्हंतदेव को हृदय में धारण कर इस उपसर्ग के टलने तक चतुर्विधाहार का त्याग कर दिया। सुलोचना अपनी सखियों के साथ गंगा में चल रही थी और महामंत्र का जाप कर रही थी, तभी गंगा प्रपातकुण्ड के गंगाकूट पर रहने वाली गंगा देवी का आसन काँप उठा। उसने अवधिज्ञान से जाना कि मेरी परमोपकारिणी और धर्म की मूर्ति ऐसी सुलोचना पर संकट आया है, ऐसा समझते ही वह गंगा देवी वहाँ आई और काली देवी को डांटकर दूर भगा कर जयकुमार आदि सभी को सकुशल गंगा के किनारे ले आई।

तदनन्तर उस देवी ने गंगा नदी के किनारे पर बहुत शीघ्र ही अपनी विक्रिया द्वारा सर्व संपदाओं से युक्त दिव्य भवन बनाया। उसमें मणिमय सिंहासन पर सुलोचना को बैठाकर उसकी पूजा की और सभी को यथायोग्य आसनों पर बैठाकर सम्मान किया पुनः सुलोचना से कहा—

"हे स्वामिनि! आपके द्वारा किये गये महामंत्र से ही मैं यहाँ गंगा नदी की अधिष्ठात्री देवी हुई हूँ और सौधर्मेन्द्र की नियोगिनी भी हूँ। यह सब वैभव आपके ही प्रसाद से मिला है।

तब जयकुमार ने सुलोचना से पूछा—

"यह क्या बात है?"

सुलोचना ने कहा—

"विंध्याचल पर्वत के समीप विंध्यपुरी नगरी के राजा विंध्यकेतु की रानी प्रियंगुश्री थी। उन दोनों के विंध्यश्री नाम की एक सुन्दर कन्या थी। उसके पिता ने मुझ पर प्रेम अधिक होने से मेरे सब गुण सीखने के लिए उसे महाराज अकंपन को सौंप दिया। वह विंध्यश्री सदा मेरे साथ रहा करती थी। एक दिन बगीचे में क्रीड़ा करते हुए वहीं पर उसे सर्प ने काट लिया, तब मैंने उसके शरीर में फैले विष को देखकर मरणासन्न समझकर णमोकार मंत्र सुनाया। सुनते हुए उसने मरण कर यह गंगादेवी का स्थान पाया है।"

पुनः जयकुमार और सुलोचना से वह देवी कहने लगी—

"किसी समय आप जयकुमार के बगीचे में गये, वहाँ विराजमान शीलगुप्त मुनि के दर्शन कर उनका उपदेश श्रवण किया। उस समय वहाँ पर एक साँप का जोड़ा भी गुरु का उपदेश सुन रहा था। उसे तुमने देखा था। किसी एक समय वज्र के गिरने से उस युगल का सर्प तो मर गया और सर्पिणी बच गयी। कुछ दिन पश्चात् आपने उस सर्पिणी को अन्य

काकोदर नाम के सर्प के साथ रमते देखकर उसे व्यभिचारिणी समझकर धिक्कारते हुए क्रीड़ा कमल से ताड़ित किया। यह देखकर आपके किंकरों ने भी डण्डे-पत्थर आदि से उस युगल को मारा, इससे वह काकोदर सर्प शांत परिणामों से मरकर यहाँ "कालीदेवी" हो गया था, उसी वैर के निमित्त से आज उसने यहाँ मगर का रूप लेकर आपके हाथी को पकड़ा था और आपको डुबाना चाहती थी।"

इतना सुनते ही उस सर्प युगल की घटना जयकुमार को याद हो आई और वे बोले—

"हां, देवि! यह घटना मुझे याद है।"

इसके परस्पर में कुछ चर्चायें कर जयकुमार ने गंगादेवी को विदा कर दिया, बाद में अपने डेरे में आ गये। धीरे-धीरे चलकर कई पड़ाव के बाद वे हस्तिनापुर आ गये। राजधानी के प्रधान-प्रधान पुरुष फल, पुष्प आदि मांगलिक सामग्री लेकर सामने स्वागत के लिए आ रहे थे। आशीर्वाद देने वाले पुरोहित, सौभाग्यवती स्त्रियाँ, मंत्री और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सेठ लोग सामने खड़े होकर शेषाक्षत दे रहे थे। चारों तरफ से तुरही आदि बाजे बज रहे थे। इस प्रकार स्वागत करने के लिए आने वालों के साथ जयकुमार ने सुलोचना सहित राजमहल में प्रवेश किया। माता-पिता को प्रणाम कर उनका आशीर्वाद प्राप्त कर प्रसन्नचित हो अपने बड़ों की यथायोग्य विनय कर बराबर के लोगों को प्रसन्न-दृष्टि से देखकर छोटे जनों को स्नेह देकर अपने महल में प्रवेश कर अपनी रानियों को संतुष्ट किया।

सुखपूर्वक कुछ काल व्यतीत होने के बाद जिनेन्द्रदेव की बहुत बड़ी पूजा करके हेमांगद आदि भाइयों के समक्ष ही अपनी सर्व रानियों

के बीच में योग्य आसन पर बैठी हुई सुलोचना को अपने हाथ से पट्ट बांधा अर्थात् पट्टरानी बनाया।

इसके बाद जयकुमार ने हेमांगद आदि साथ में आए हुए सुलोचना के भाइयों का तथा अन्य राजा व राजपुत्रों का यथायोग्य सम्मान कर उनके-उनके योग्य हाथी, घोड़े, रत्न, वाहन आदि भेंट कर उन सबको विदाई दी। वे हेमांगद आदि भी वहाँ से निकल कर कुछ पड़ाव के बाद अपनी बनारस नगरी आकर पिता अकंपन और माता सुप्रभा के दर्शन कर सुलोचना के पुण्य की प्रशंसा करते हुए उन्हें मार्ग से लेकर हस्तिनापुर तक का सारा समाचार सुनाकर प्रसन्न किया।

(३३)

भगवान् ऋषभदेव समवसरण में विराजमान थे और अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा अनंत भव्यजीवों पर अनुग्रह कर रहे थे, उनकी दिव्य ध्वनि प्रातः, मध्यान्ह, सायं और अंतरात्रि में छह-छह घड़ी पर्यंत खिरती थी तथा गणधर, चक्रवर्ती और इन्द्र के प्रश्न के अनुसार अन्य समय में भी खिरती थी, बिना इच्छा के ही भगवान् का उपदेश होता था तथा बिना इच्छा के ही 'श्रीविहार' होता था। जब भगवान्! विहार करते थे तब समवसरण विघटित हो जाता था, भगवान् आकाश में अधर विहार करते थे। देवगण उनके चरण कमलों के नीचे दिव्य सुगंधित सुवर्णमय कमलों की रचना करते चले जाते थे।

सम्पूर्ण, आर्यखण्ड के कौशल, अयोध्या, कुरुजांगल-हस्तिनापुर, अंग-बंग, चंपापुरी, आन्ध्र, कर्नाटक आदि सर्व देशों में विहार कर चुके थे, उनके साथ वृषभसेन आदि चौरासी गणधर थे। सब चौरासी हजार मुनिराज निरंतर प्रभु की वंदना करते थे, ब्राह्मी सुन्दरी आदि तीन लाख

पचास हजार आर्यिकाएं थीं, दृढ़व्रत आदि तीन लाख श्रावक और सुव्रता आदि पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। भवनवासी आदि चार प्रकार के असंख्य देव-देवियाँ प्रभु के चरण-कमलों का स्तवन कर रहे थे। अगणित तिर्यंच जीव वहाँ बैठे हुए थे, ये सब क्रूर हिंसक भाव को छोड़कर शांत भाव से प्रभु का उपदेश सुन रहे थे। भगवान् एक लाख वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व वर्ष पर्यंत पृथ्वी पर श्रीविहार कर धर्मोपदेश कर चुके थे। जब मात्र आयु के चौदह दिन शेष रह गये तब पौषमास की पूर्णिमा के दिन कैलाश पर्वत पर जाकर विराजमान हो गये।

उसी दिन रात्रि में भरत महाराज ने स्वप्न में देखा कि महामेरु पर्वत अपनी लम्बाई से सिद्ध क्षेत्र तक पहुँच गया। उसी दिन युवराज अर्ककीर्ति ने भी स्वप्न में देखा कि महौषधि का वृक्ष मनुष्यों के जन्मरूपी रोग को नष्ट कर फिर स्वर्ग को जा रहा है। उसी दिन गृहपति ने देखा कि एक कल्पवृक्ष निरंतर लोगों को अभीष्ट फल देकर अब स्वर्ग को जाने के लिए तैयार हुआ है। प्रधानमंत्री देखते हैं कि एक रत्नदीप अनेक इच्छुक लोगों को रत्नों का समूह देकर अब आकाश में जाने के लिए उद्यत हो रहा है। सेनापति जयकुमार देखते हैं कि सिंह वज्र के पिंजड़े को तोड़कर कैलाशपर्वत को उल्लंघन करने के लिए तैयार हो गया है। जयकुमार के पुत्र अनंतवीर्य देखते हैं कि चन्द्रमा तीनों लोकों को प्रकाशित कर ताराओं सहित जा रहा है। सोती हुई सुभद्रा महारानी भी स्वप्न में देखती हैं कि यशस्वती और सुनंदा के साथ बैठी हुई इन्द्राणी बहुत देर तक शोक कर रही है। बनारस के राजा चित्रांगद भी घबराहट के साथ स्वप्न देखते हैं कि सूर्य, पृथ्वी तल को प्रकाशित कर आकाश की ओर उड़ा जा रहा है।

इस प्रकार भरत आदि सभी प्रमुख लोगों ने स्वप्न देखा पुनः सूर्योदय होते ही सब अपने-अपने पुरोहित से स्वप्न का फल पूछने लगे, पुरोहित कहते हैं —

"भगवान् ऋषभदेव सभी कर्मों को नष्ट कर अनेक मुनियों के साथ मोक्ष जाने वाले हैं, ये स्वप्न ऐसी सूचना दे रहे हैं।"

इस प्रकार पुरोहित फल सुना ही रहे थे कि इतने में ही आनन्द नाम का एक किंकर आकर महाराज भरत से कहता है —

"राजाधिराज! भगवान् ऋषभदेव ने अपनी दिव्य-ध्वनि का संकोच कर लिया है इसलिए सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर बैठी हुई है और ऐसा मालूम पड़ रहा है कि मानो सूर्यास्त के साथ निमीलित कमलों से युक्त सरोवर ही हो।"

यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगों के साथ कैलाश पर्वत पर पहुँच गये। वहाँ आकर भगवान् की तीन प्रदक्षिणाएं देकर स्तुति कर भक्तिपूर्वक अपने हाथ से महामह नाम की पूजा करते हुए वे चौदह दिन तक इसी प्रकार भगवान् की सेवा करते रहे।

भगवान् ऋषभदेव पूर्व दिशा की ओर मुँह कर अनेक मुनियों के साथ पर्यंकासन से विराजमान हैं। माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन सूर्योदय के शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्र में भगवान ने तीसरे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम के शुक्ल ध्यान से तीनों योगों का निरोध किया पुनः अंतिम गुण स्थान में ठहरकर पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण प्रमाण काल में चौथे व्युपरत क्रियानिर्वृत्ति नाम के शुक्ल ध्यान से अघातिया कर्मों का नाश कर दिया, उसी क्षण औदारिक तैजस और कार्माण इन तीनों शरीररूप नाम कर्म की प्रकृतियों के नष्ट हो जाने से सिद्धत्व पर्याय प्राप्त कर वे

सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघु और अव्याबाध इन आठ गुणों से सहित होकर एक समय मात्र में ही लोक शिखर के अग्रभाग पर तनुवातवलय में पहुँच गये। वहाँ पर वे नित्य, निरंजन, अपने शरीर से कुछ कम, अमूर्तिक हुए अपने आत्म-सुख में तल्लीन होकर संसार को निरंतर देखते हुए विराजमान हो गये।

उसी समय देवेन्द्रों का आसन कम्पायमान होते ही सभी देवेन्द्र, असुरेन्द्र और असंख्य देव-देवीगण भी वहाँ आ गये। सौधर्म इन्द्र तो पहले से ही वहाँ उपस्थित थे। सभी मिलकर भगवान् के मोक्ष कल्याणक की पूजा करने की इच्छा से —

"यह भगवान् का शरीर अतिशय पवित्र है, उत्कृष्ट है, मोक्ष का साधन है, स्वच्छ और निर्मल है।"

यह विचार कर भगवान् के शरीर को बहुमूल्य पालकी में विराजमान किया। अग्निकुमार देवों ने इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न हुई अग्नि से उस शरीर का संस्कार किया। उसमें चंदन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगंधित पदार्थ और घी, दूध आदि से उस अग्नि को वृद्धिंगत किया, उस समय उस अग्नि से जगत् में अभूतपूर्व सुगंधि फैल गई। देखते ही देखते प्रभु का वर्तमान शरीर का आकार नष्ट हो गया, वह उस समय दूसरी पर्यायरूप से परिणत हो गया।

उस काल में भगवान् के अग्निकुण्ड के दाहिने ओर गणधरों के शरीर का संस्कार करने वाली अग्नि स्थापित की गई थी और बायीं ओर सामान्य केवलियों के शरीर का संस्कार करने वाली अग्नि स्थापित की गई थी। इस प्रकार इन्द्रों ने उस काल में पृथ्वी पर तीन प्रकार की अग्नि स्थापित करके गंध, पुष्प आदि से उन अग्नियों की पूजा की थी। यद्यपि

अग्नि स्वयं पूज्य नहीं है तथापि तीर्थंकर आदि के शरीर का संस्कार करने वाली ये तीनों कुण्डों की अग्नि पूज्य मानी गई है जैसे कि भगवान् के स्पर्श से कैलाशपर्वत आदि पर्वत पूज्य माने गये हैं। तदनन्तर वे सौधर्म इन्द्र आदि सभी देवगण पंचकल्याणक को प्राप्त होने वाले श्री ऋषभदेव के शरीर की भस्म को हाथ में लेकर—"हम लोग भी ऐसे ही हों।"

ऐसी भावना भाते हुए बड़ी भक्ति से वह भस्म अपने ललाट पर, दोनों भुजाओं में और वक्षःस्थल में लगाई। वे सब उस भस्म को अत्यन्त पवित्र मानकर धर्मानुराग के रस में तन्मय हो गये। तत्पश्चात् सब इन्द्रादि ने मिल करके बहुत ही हर्ष से "आनन्द" नाम का नाटक किया पुनः श्रावकों को उपदेश दिया।

"हे सप्तम आदि प्रतिमा को धारण करने वाले सभी ब्रह्मचारियों! तुम लोग तीनों संध्याओं में स्वयं गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों की स्थापना करो और उनके समीप ही धर्मचक्र, छत्र तथा जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं की स्थापना कर तीनों काल के मंत्रपूर्वक उनकी पूजा करो। इस प्रकार गृहस्थों के द्वारा आदर-सत्कार पाते हुए अतिथि बनो।"

इत्यादि प्रकार से कहकर देवगण भगवान् के निर्वाण कल्याणक महोत्सव को सम्पन्न कर पुनः-पुनः गणधर आदि गुरुओं को नमस्कार कर अपने-अपने स्वर्ग को चले गये।

चक्रवर्ती भरत अतिशय प्रबुद्ध थे। उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन था, अवधिज्ञान था, तथा वे देश संयमी थे फिर भी उस समय इष्ट वियोग से उत्पन्न हुई और स्नेहरूपी घृत से प्रज्ज्वलित हुई शोकरूपी अग्नि उनके चित्त को जला रही थी, अर्थात् शोक से उनका भी चित्त व्याकुल हो रहा

था। यह देखकर श्री वृषभसेन गणधर देव ने उनके शोक को दूर करने की इच्छा से भरत को उपदेश देते हुए अपने सभी के पूर्व भवों को प्रतिपादन करते हुए कहा—

"हे भरत! सुनो, भगवान् ऋषभदेव के साथ हम लोगों का कई भवों से संबंध चला आ रहा है। आज भगवान् ने जैसे निर्वाणधाम को प्राप्त किया है, वैसे ही हम सभी उनके पुत्र भी इसी भव से निर्वाण को प्राप्त करेंगे। मैं भगवान् के हमारे, आपके तथा आपके कतिपय भाइयों के और राजा श्रेयांस के पूर्वभवों को सुना रहा हूँ। तुम सावधान होकर सुनो!

इसी जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में एक गन्धिला नाम का देश है। वहाँ के सिंहपुर नगर में राजा श्रीषेण की सुन्दरी नाम की रानी के जयवर्मा का बड़ा पुत्र था। उसने विरक्त हो जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली, परन्तु संयम के (भावसंयम के) प्रगट नहीं होने से वह उसी देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी पर "अलका" नाम की नगरी में महाबल नाम का विद्याधर राजा हो गया। वहाँ उसने स्वयंबुद्ध मंत्री के उपदेश से आत्म-ज्ञान प्राप्त कर अष्टाह्निक पर्व में जिनपूजा करके समाधिमरण से शरीर छोड़ा, उसके प्रभाव से स्वर्ग में ललितांग नाम का देव हो गया। वहाँ से च्युत होकर राजा वज्रजंघ हुआ पुनः दान के प्रभाव से मरण कर उत्तरकुरु भोगभूमि में आर्य हो गया। वहाँ ऋषिधारी मुनि से सम्यक्त्व प्राप्त कर अन्त में मरकर स्वर्ग में "श्रीधर" देव हुआ पुनः सुविधि राजा हुआ, इसके बाद अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हो गया। अनंतर वहाँ से च्युत होकर यहाँ मर्त्यलोक में आकर मनुष्य भव में संयम धारण कर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र हो गया। वे ही अहमिंद्र यहां भगवान् ऋषभदेव हुए हैं।

अब राजा श्रेयांस के भवों को कहता हूँ। पूर्वघातकी खण्ड में गंधिला देश के पलाल नामक गांव में एक गृहस्थ की पुत्री धनश्री थी। वह कुछ पुण्य के उदय से पुनः उसी देश के पाटली गांव के एक वणिक की निर्नामिका नाम की पुत्री हो गई। वहाँ उसने ''पिहितास्रव'' नाम के महामुनि से 'जिनेंद्रगुणसंपत्ति' और 'श्रुतज्ञान' नाम के व्रतों को ग्रहण कर विधिवत् उपवास किया। उससे वह कन्या स्वर्ग में स्वयंप्रभा नाम की देवी होकर भगवान् ऋषभदेव के जीव-ललितांग देव की प्रिय वल्लभा हुई। वहाँ से चयकर राजा वज्रजंघ की रानी श्रीमती हो गई। इन्हीं वज्रजंघ और श्रीमती ने चारणयुगल मुनियों को आहार दान दिया था, जिसका स्मरण राजा श्रेयांस को भगवान् के आहार दान के समय हो गया था पुनः वह रानी श्रीमती दान के प्रभाव से भोगभूमि में उन्हीं वज्रजंघ आर्य की पत्नी हो गई। वहाँ पर मुनिराज से सम्यक्त्व प्राप्त कर स्त्रीपर्याय से छूटकर वह आर्या स्वर्ग में स्वयंप्रभा देव हो गया। वहाँ से च्युत होकर सातवें भव में केशव हुआ, आठवें भव में अच्युत स्वर्ग का प्रतीन्द्र हुआ, नवमें भव में धनदत्त हुआ, दशवें भव में अहमिंद्र हुआ पुनः ग्यारहवें भव में राजा श्रेयांस होकर दानतीर्थ का प्रवर्तक हुआ है।

हे राजन्! आपके भी नव भवों को कहता हूँ। इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में वत्सकावती नाम का देश है। उसमें एक प्रभाकरी नाम की नगरी है। वहाँ का राजा अतिगृद्ध अपने नाम के अनुसार ही विषयों में अति आसक्त था। उसने अधिक आरंभ और परिग्रह में फँसकर नरकायु बाँध ली। अंत में मरकर चौथे नरक में चला गया। वहाँ के दुःखों को भोगकर वहाँ से निकला, यहाँ मध्यलोक में उसी प्रभाकरी नगरी के समीप ही एक पर्वत पर व्याघ्र हो गया, चूँकि उसने राजा की पर्याय में

उसी पर्वत पर बहुत-सा धन गाड़ रखा था, उसी संस्कार से वह उसी पर्वत पर रहा करता था।

एक दिन उस नगरी के राजा प्रीतिवर्धन कारणवश यहाँ पर्वत पर ठहरे थे। उन्होंने वहीं पर पिहितास्रव नाम के एक मासोपवासी महामुनि को आहार दान दिया। उसके फल से वहाँ पर्वत पर देवों ने पंचाश्चर्य बरसाये। उस समय वहाँ देवदुन्दुभि आदि को सुनकर उस व्याघ्र को जातिस्मरण हो गया, जिससे उसने शांतभाव धारण कर शरीर से ममत्व छोड़कर सल्लेखना धारण कर ली। धर्म के प्रेम से उन अवधिज्ञानी महामुनि ने भी आकर उसे विधिवत् सल्लेखना दे दी और राजा प्रीतिवर्धन को उसकी सेवा करने का आदेश देकर वे विहार कर गये। वह व्याघ्र संन्यासविधि से मरकर स्वर्ग में 'दिवाकर प्रभ' नाम का देव हो गया। पाँचवे भव में वही देव राजा वज्रजंघ का मतिवर नाम का मंत्री हो गया। वहाँ पर तपश्चरण करके छठे भव में अहमिंद्र हो गया। सातवें भव में सुबाहु हुआ, आठवें भव में अहमिंद्र हुआ पुनः नवमें भव में वही अहमिंद्र का जीव तू भरत चक्रवर्ती हुआ है।

जिस समय राजा वज्रजंघ वन में चारणयुगल मुनियों को आहार दे रहे थे, उस समय उनके मतिवर नाम के मंत्री, अकंपन नाम के सेनापति, आनंद नाम के पुरोहित और धनमित्र नाम के सेठ थे वे चारों भी आहार देख रहे थे। उसी समय नेवला, सिंह, बानर और सूकर ये चार पशु भी बड़े ही भक्ति भाव से मुनिराज का आहार देख रहे थे। इन चारों पशुओं ने भी आहारदान की अनुमोदना से महान् पुण्य बांध लिया था। आयु के अंत में वे चारों ही मरकर भोगभूमि में आर्य हो गये थे तथा वे मंत्री, सेनापति आदि भी उसी भव में दीक्षा लेकर अंत में संयास से

मरणकर अहमिंद्र हो गये थे। उनमें से मतिवर मंत्री के जीव तुम भरत हुए हो। अकंपन सेनापति का जीव ही कई भवों बाद भगवान् ऋषभदेव का द्वितीय पुत्र बाहुबली हुआ है। आनन्दनाम के पुरोहित का जीव ही मैं भगवान् का तृतीय पुत्र वृषभसेन होकर भगवान् का ही प्रथम गणधर हुआ हूँ। धनमित्र सेठ का जीव भगवान् का पुत्र अनन्त विजय होकर उन्हीं का गणधर हुआ है। आहार देखने वाले सिंह, नेवला, वानर और सूकर के जीव भी इस भव में भगवान् के ही पुत्र हुए हैं।

हम और आप सभी आठ-दस भवों तक भगवान् के साथ ही देव और मनुष्य के सुखों का अनुभव करते रहे हैं। हम सभी उन्हीं के पावन तीर्थ में कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करेंगे। इसलिए हे भरत! संसार की स्थिति का विचार करने में कुशल होते हुए तुम आज खिन्न हृउदय क्यों हो रहे हो? भगवान् ऋषभदेव तो आठों कर्मों को नष्ट कर अनुपम अविनाशी सौख्य को प्राप्त कर चुके हैं। फिर भला संतोष के स्थान पर विषाद क्यों करना? पूज्य पिता का वियोग हो जाने से यदि तुम शोक करते हो तो बताओ ये इन्द्रादि सभी देवगण जन्म के पहले से ही भगवान् की अतिशय सेवा कर रहे थे पुनः ये उनके शरीर को जलाकर 'आनन्द' नृत्य महोत्सव क्यों कर रहे थे?

यदि तुम सोच रहे हो कि अब ये भगवान् हमें नेत्रों से दिखाई नहीं देंगे, तो भी वे भगवान् अब भी हृदय में विद्यमान हैं। तुम अपने हृदय में सदैव उनको देखते रहो। हे निधिपते! अब तुम शीघ्र ही शोकरूपी अग्नि को निर्मल ज्ञानरूपी जल से शांत करो। देखो, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि होना यह तो संसार का स्वभाव ही है।" इत्यादि प्रकार से श्री वृषभसेन गणधर से संबोधन प्राप्त कर महाराज भरत ने अपने मन के

शोक को दूर कर शांत चित्त हो पुनः-पुनः सभी गुरुओं के चरणों में प्रणाम किया पुनः अपने हृदय में भगवान के प्रतिबिंब को विराजमान करके उनके पंचकल्याण वैभव और अनुपम गुणों का अतिशय रूप से चिंतवन करते हुए अयोध्यापुरी की ओर प्रस्थान कर दिया।

जब चतुर्थ काल में तीन वर्ष साढ़े आठ माह काल शेष रह गया था तभी भगवान् मोक्ष को चले गये थे।

इस युग के आदि में जन्म लेकर प्रभु ने प्रजा को असि, मषि, कृषि, शिल्प, विद्या और वाणिज्य इन छह प्रकार की आजीविका का उपाय बताया, पुनः श्रावकों की देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह क्रियाओं का तथा मुनियों की सामायिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह प्रकार की क्रियाओं का उपदेश देकर मोक्षमार्ग का विधान किया था, इसीलिए वे प्रभु ऋषभदेव "आदिब्रह्मा" युगस्त्रष्टा, युगादिपुरुष, विधि और विधाता आदि नामों से पुकारे गये हैं, ऐसे ये "आदिब्रह्मा" भगवान् आदिनाथ महाराज नाभिराज के पुत्र होकर भी 'स्वयंभू'हैं, समस्त परिग्रह को त्याग करने के बाद भी सबके 'स्वामी' हैं और स्वयं किसी को गुरु न बनाने पर भी तीन लोक के एक 'गुरु' हैं। वे "आदिब्रह्मा" हम सबकी तथा सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करें और सबको सुख-शांति प्रदान करें।

(३४)

भरत महाराज एक दिन उज्ज्वल दर्पण में अपना मुखकमल देख रहे थे कि भगवान् ऋषभदेव के पास से आये हुए दूत के समान अपने सिर में एक सफेद बाल देखा। उसे देखते ही तत्क्षण उन्हें वैराग्य हो गया वे सोचने लगे—

"अहो! मेरे जैसा प्रबुद्ध पुरुष भी और इतने काल तक विषयों में सुख मान रहा है, कितने आश्चर्य की बात है?"

उनका मोहरस गल गया और आत्म-ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे अपने अवधिज्ञान से विचारने लगे—

मैंने कितनी बार देवों के दिव्य भोगों को सागरोपम की आयु से भोगा है किन्तु तृप्ति नहीं हुई और सर्वार्थसिद्धि के उत्तम सुखों का अनुभव तो तैंतीस सागर तक किया है। यहाँ भी कुछ कम छह लाख पूर्व वर्ष तक चक्रवर्ती के दिव्य सुखों का अनुभव किया है, पर क्या इनसे तृप्ति हो सकती है? वास्तव में इन भोगों को जितना ही भोगा जावे उतनी ही तृष्णा बढ़ती चली जाती है। यह साम्राज्य लक्ष्मी न आज तक किसी के स्थिर रही है और न रहेगी ही। जब सर्वार्थसिद्धि की तैंतीस सागर की आयु समाप्त होने पर वहाँ से च्युत होना ही पड़ा था तो भला यहाँ मनुष्य की चौरासी लाख पूर्व वर्ष की आयु को भोगकर क्या यहीं रहना है? मरना ही पड़ेगा।

मैं तो चरमशरीरी हूँ इसी भव से मोक्ष होगा ही होगा। फिर भी जैनेश्वरी दीक्षा धारण किये बिना कर्मों का नाश होना असंभव है अतः अब मुझे गृह, साम्राज्य और इन स्त्री, पुत्रों, पौत्रों का मोह छोड़कर वन में जाना है। अहो! जब यह अति निकट, दूध और पानी के समान हुआ यह शरीर भी अपना नहीं है तब ये धन, वैभव, कुटुम्ब आदि प्रत्यक्ष में ही भिन्न हैं। यद्यपि यह शरीर विनाशी है तो भी इसी से तो अविनाशी अक्षय परमसुख का स्थान ऐसा मोक्षधाम प्राप्त किया जाता है।

मेरे निन्यानवे भाई और बाहुबली भाई तथा ब्राह्मी-सुन्दरी बहनें, इन सबों ने तो पहले ही दीक्षा ले ली है। नौ सौ तेइस पुत्रों ने भी निगोद से आकर इस मनुष्य पर्याय को पाकर भगवान् ऋषभदेव के प्रसाद से

आत्म-ज्ञान प्राप्त कर दीक्षा ले ली है।

पूर्व में किये हुए पुण्य के योग से मैंने बहुत काल तक यह चक्रवर्ती का सौख्य अनुभव किया है किन्तु यह आत्मा का स्वाभाविक सुख नहीं है......सच्चा सुख तो वही है जो अपनी आत्मा से ही उत्पन्न होवे, जिसमें पर वस्तु की अपेक्षा ही न हो, और जो सदा-सदा काल तक बना रहे, फिर कभी जिसके बाद दुःख ही न हो, ऐसा आकुलता रहित, जन्म-मरण रहित, अतीन्द्रिय सुख ही आत्मा का सुख है। अब हमें उसी सुख को प्राप्त करना है। अपने पूज्य पिता के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर उनके निवास स्थान लोकाग्र पर उनके साथ शाश्वत काल तक वहीं निवास करना है, शरीर से रहित अशरीरी अथवा ज्ञानशरीरी बनना है।"

इत्यादि प्रकार से विचार कर बारह भावनाओं का चिंतवन करते हुए उनका वैराग्य अतिशय वृद्धिंगत हो गया। उन्होंने तत्काल ही अपने ज्येष्ठ पुत्र अर्ककीर्ति को बुलाकर बहुत से मुकुटबद्ध महामंडलीक, मंडलीक राजाओं और मंत्रियों के समक्ष अर्ककीर्ति का राज्याभिषेक कर उसके सिर पर मुकुट रखकर अपना सर्व साम्राज्य समर्पित कर दिया और यथा योग्य शिक्षा देकर अपनी अंतःपुर की रानियों से, सर्वमंत्रीगण से, प्रमुख-प्रमुख प्रजाजनों से पूछकर वन की ओर जाने को तैयार हुए। उस समय अंतःपुर की बहुत-सी रानियाँ पतिवियोग के दुख से घबरा कर कातर हो रोने लगीं, किन्तु भरत ने उन्हें थोड़े ही शब्दों में संसार की क्षणिकता का उपदेश देकर प्रस्थान कर दिया। चूँकि उनका मोह गल चुका था।

उन्होंने वन में जाकर स्वच्छ पत्थर की शिला पर खड़े होकर पंचमुष्टि केशलोंच कर सर्व वस्त्राभरण का त्याग कर दिया और जैनेश्वरी दीक्षा लेकर ध्यान में एकतान (लीन) हो गये। तत्क्षण ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान

प्रगट हो गया। वे अंतर्मुहूर्त काल के अंदर ही असंख्यातों बार सातवें से छठे और छठे से सातवें गुणस्थान में आते-जाते रहे और तत्क्षण ही सातवें से आठवें, आठवें से नवमें और नवमें से दसवें गुणस्थान में आकर मोहनीय कर्म को जड़मूल से उखाड़कर फेंक दिया अर्थात् भरत महाराज ने अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्वत् सम्यक्त्वमिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियों का गृहस्थाश्रम में रहते हुए भगवान् ऋषभदेव के पादमूल में बैठकर नाश कर दिया था और क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो चुके थे तथा पाँच अणुव्रतों का अच्छी तरह पालन करने से वे देशव्रती पंचमगुणस्थानवर्ती थे। चरम शरीर होने से इनके अगले भव के लिए किसी भी आयु का बंध नहीं हुआ था अतः मनुष्यायु का उदय और सत्त्व था। शेष नरक, तिर्यंच और देव इन तीन आयु का बंध व सत्त्व नहीं था। इस प्रकार से दस प्रकृतियाँ पहले से ही समाप्त हो चुकी थीं।

दीक्षा लेते ही सातवें गुणस्थान में पहुँचे, अन्तमुहूर्त में ही छठे में आ गये पुनः छठे, सातवें में अवरोहण-आरोहण करते हुए सातिशय अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान पर पहुँचकर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान पर पहुँच गये। वहाँ अपूर्व-अपूर्व परिणामों से आत्मा की निर्मलता करते हुए अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान में पहुँच गये। वह इस गुणस्थान के नव भागों में से प्रथम भाग में नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचल, स्त्यानगृद्धि, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर इन सोलह प्रकृतियों का नाश कर दूसरे भाग में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ प्रकृतियों का नाश किया पुनः तीसरे भाग में नपुंसक वेद, चौथे भाग में स्त्रीवेद, पाँचवें भाग में हास्य, रति, अरति, शोक, भय

और जुगुप्सा इन प्रकृतियों को समाप्त किया। अनंतर छठे भाग में पुरुषवेद, सातवें भाग में संज्वलन क्रोध, आठवें भाग में संज्वलन मान और नवमें भाग में संज्वलन माया का नाश कर दिया। इन छत्तीस प्रकृतियों को नवमें गुणस्थान में नष्ट कर दिया।

पुनः दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ को नाश करके सर्वमोहनीय का आमूल-चूल नष्ट कर दिया। इसके बाद बारहवें क्षीणकषाय नामक गुणस्थान में ज्ञानावरण कर्म की पाँच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पाँच, निद्रा और प्रचला इन सोलह प्रकृतियों का नाश कर दिया। इस प्रकार ध्यान चक्र के द्वारा (७+३+३६+१+१६=६३) इन त्रेसठ प्रकृतियों का नाश कर वे भरत महाराज आत्मा की दिग्विजय में घातिया कर्मरूपी शत्रुओं को जीतकर तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर केवलज्ञानी सर्वज्ञ, भगवान्, धर्म चक्रवर्ती हो गये। ये सयोग केवली भट्टारक वहाँ पूर्ण ज्ञानज्योति को प्रगट कर लोक-अलोक को एक समय में जानने वाले हो गये। वे पृथ्वी से ऊपर ५००० धनुष आकाश में चले गये।

उसी क्षण स्वर्ग से देवों ने आकर केवली भगवान् भरतेश्वर के लिए गंधकुटी की रचना कर दी। वहाँ बारह सभाओं में संख्यात् मनुष्य, तिर्यंच और असंख्यात् देव-देवी आ गये। देवों के जय-जयकारों से आकाशमंडल गूँज उठा। सभी मनुष्यों ने, देव-देवियों ने स्तुति करते हुए कहा—

"हे भगवन् ! आपने दीक्षा लेते ही उसी क्षण घातिया कर्मों का क्षपण कर लिया, जबकि भरत क्षेत्र के दिग्विजय में आपने साठ हजार वर्ष लगाये थे और इस समय तो आपका ध्यान चक्र इतना तीक्ष्ण रहा कि आपने तत्क्षण ही मोहशत्रु का मस्तक छेद डाला, अनंतर उसके सेनापति के समान ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय को भी सर्वथा

नष्ट कर दिया। हे नाथ! आप गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी जिनपूजा, दान, शील और उपवास इन क्रियाओं के करने में इतने अधिक विशेष थे, आपकी अर्हद् भक्ति और गुरु भक्ति इतनी महान् थी, आपकी उपवास के दिनों में आत्म-ध्यान साधना इतनी सुन्दर थी कि आपके कर्मशत्रु गृहस्थ आश्रम में ही इतने निर्बल हो चुके थे, यही कारण है कि आपको उनको निर्मल करने में तपश्चरण की आवश्यकता नहीं पड़ी। अहो! धन्य है आपकी ध्यानैकलीनता!! 'पिता से सवाया' की सूक्ति के अनुसार आपके पिताश्री ने तो एक हजार वर्षा तक तपश्चरण कर केवलज्ञान प्राप्त किया था किन्तु आपने एक क्षण में ही उस केवल ज्ञान को प्रगट कर लिया.....इसमें आश्चर्य ही क्या है? आपने जो अपने पिताजी की अतिशय भक्ति कर-करके अनेकों जिनमंदिर और जिन प्रतिमाएं निर्मापित कराकर उनकी भक्ति कर-करके श्रावकवेश में ही असंख्यगुणित कर्मों की निर्जरा कर रखी थी, यह सब उन पूज्यपाद श्री ऋषभदेव की भक्ति का ही प्रसाद है कि जो आपने बिना तपश्चरण के कर्म खपा दिये। अन्यथा यह शक्ति आप में कहाँ से आती?

हे परमेश्वर! हे ध्यान चक्रेश्वर! हे ज्ञान चक्रेश्वर! इस युग की आदि में आप ही एक ऐसे अद्वितीय महापुरुष हुए हैं कि जिन्होंने दीक्षा लेते ही पूर्ण ज्ञानलक्ष्मी को पा लिया। आगे भी ऐसे विलक्षण महापुरुष होंगे, ऐसी संभावना नहीं है। इसलिए आपका प्रभाव अचिन्त्य है, लोकोत्तर है। वैसे ही आप जैसा श्रावक न हुआ है और न होगा ही। जो आपकी बराबरी करना चाहेगा वह अपनी आत्मा की ही वंचना कर लेगा। अहो! त्रैलोक्याधिपते! तीनों कालों सहित ये तीनों जगत् आपकी दिव्य परम ज्योति में एक साथ झलक रहे हैं। आप तीन लोक के गुरु हैं, तीनों लोकों के सर्व इन्द्र, नरेन्द्र और धरणेन्द्र से वंद्य हैं। आप हमें भी

भक्तिमार्ग से मुक्ति प्राप्त करने की युक्ति और शक्ति प्रदान कीजिए।"

इत्यादि प्रकार से अनेक स्रोतों से स्तुति कर सर्वजन भगवान् भरत के मुखकमल से दिव्य देशना को सुनने के उत्सुक हो अपने-अपने कोठे में बैठ गये। तब भगवान् की दिव्यध्वनि खिरी जिसे सभी ने अपनी-अपनी भाषा में समझ लिया। उनकी सभा में बहुत-से मुनिगण विराजमान थे, मंडलीक, महामंडलीक आदि राजा-महाराजा बैठे हुए उपदेश सुन रहे थे।

भगवान् का श्री विहार आकाश में होता था। असंख्य देव-देवी और इन्द्रगण उसके व्यवस्थापक थे। जहां भरत भगवान् रुक जाते थे, वहीं अर्ध निमिष में देवों द्वारा गंधकुटी की रचना हो जाती थी। सर्वत्र आर्यखण्ड में, सर्व देश नगर और ग्रामों में प्रभु का श्रीविहार होता था। असंख्य प्राणियों ने प्रभु के श्रीविहार, दर्शन, वन्दन, स्तवन, पूजन और उपदेश श्रवण से लाभ लिया था। जैसे गृहस्थावस्था में छह खण्ड पृथ्वी पर उनका एकछत्र शासन था, वैसे ही अब केवली अवस्था में यहाँ भरतक्षेत्र में अथवा तीनों लोकों में उनका एकछत्र धर्मशासन चल रहा है।

इस प्रकार भगवान् भरत ने कुछ कम एक लाख पूर्व वर्ष तक इस आर्यखण्ड में विहार कर धर्मामृत की वर्षा से भव्यजनरूपी खेती का सिंचन किया। अनन्तर अन्तर्मुहूर्त आयु के शेष रहने पर कैलाशपति पर पहुँच गये, उनकी गंधकुटी की रचना विघटित हो चुकी थी। ये योग निरोध कर अंतिम शुक्लध्यान के बल से सर्व अघातिया कर्मों का विध्वंस करने लगे। उन्होंने अयोग केवली होकर आयु समाप्ति के द्विचरम समय में बहत्तर प्रकृतियों का नाश किया—

औदारिक आदि पाँच शरीर, पाँच संघात, पाँच बंधन, छह संस्थान, छह संहनन, तीन आंगोपांग, पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श,

देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्‌वास, दो विहायोगति, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुस्वर, सुभग, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निर्माण, नीचगोत्र और साता-असाता में से कोई एक ये बहत्तर प्रकृतियाँ हैं।

अनन्तर चरम समय में-अंतिम समय में शेष रही एक वेदनीय मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, पंचेन्द्रिय जाति, त्रसं, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशस्कीर्ति, प्रत्येक और उच्चगोत्र इन बारह प्रकृतियों को सर्वथा निर्मूल कर दिया और उसी समय वे यहाँ से सात राजु ऊपर एक समय में ऊर्ध्वगमन कर तीन लोक के मस्तक के अग्रभाग पर जाकर तनुवातवलय के अंत में विराजमान हो गये। वे भगवान् कृतकृत्य हुए नित्य, निरंजन, निराकार, सिद्ध परमात्मा हो गये। यद्यपि वहाँ पर उनके प्रदेशों का आकार अंतिम शरीर से किंचिन्न्यून पुरुषाकार था, फिर भी वे पौद्‌गलिक शरीर से रहित होने से निराकार हैं। वहाँ एक सिद्ध में अनन्तानन्त सिद्ध विराजमान हैं, उन्हीं में विराजमान होकर अपने अनन्तगुणों के साथ अपना अस्तित्व लिए हुए वे स्वतंत्र विराजमान हैं। वे आठ कर्मों के नाश होने से आठ मुख्य गुणों से समन्वित हैं। चिच्चैतन्य रत्नाकरस्वरूप अनन्तगुणों के भण्डार हैं।

भरत के शरीर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष[१] थी, शरीर का वर्ण तपाये हुए सुवर्ण के सदृश सुन्दर था और आयु ८४ लाख पूर्व वर्ष की थी, उसमें से इनका 'कुमारकाल सत्तर लाख पूर्व वर्ष, मंडलीक काल हजार वर्ष, दिग्विजय काल साठ हजार वर्ष, चक्रवर्ती का साम्राज्य काल इकसठ हजार वर्ष कम छह लाख पूर्व वर्ष और संयम ग्रहण कर केवली

१. चार हाथ का एक धनुष होता है।

काल एक लाख पूर्व वर्ष प्रमाण था। इस प्रकार ७७००००० पूर्व + १००० वर्ष+ ६०००० वर्ष + ६००००० पूर्व में-६१००० वर्ष कम + १००००० पूर्व = ९४००००० पूर्व वर्ष प्रमाण आयु थी।

ये भरत महाराज इससे पाँचवे भव पूर्व राजा वज्रजंघ (भगवान् ऋषभदेव होने वाले) के मतिवर नाम के मंत्री थे। वन में चारणयुगल मुनियों के आहार दान को देखकर अनुमोदना से पुण्य का बंध किया था। अनंतर मुनि बनकर घोर तपश्चरण कर अहमिंद्र हो गये थे। वहाँ से च्युत होकर वज्रनाभि चक्रवर्ती (ऋषभदेव होने वाले) के "सुबाहु" नाम के भाई हुए थे। यहाँ भी मुनि बनकर घोरातिघोर तपश्चरण करके अंत में प्रयोपगमन नाम के उत्कृष्ट सन्यास मरण के प्रभाव से सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र हुए थे। वहाँ से च्युत होकर ये भगवान् ऋषभदेव की महारानी यशस्वती के सबसे प्रथम भरत पुत्र हुए हैं। इन्होंने पूर्व में उत्तम संहननधारी जिनकल्पी मुनि होकर उत्कृष्ट तपश्चरण करके सर्वार्थसिद्धि जैसे सर्वोत्कृष्ट स्थान को प्राप्त किया था। इनके उस पूर्व के तपश्चरण की ओर वर्तमान में जिनभक्ति, जिनपूजा, पात्रदान, गुरुभक्ति की तथा गृहस्थाश्रम में भी शील और उपवास आदि व्रतों की इतनी विशेषता रही है कि जिसके प्रभाव से इनके कर्म शक्तिहीन होते रहे हैं। यही कारण था कि इन्हें दीक्षा लेते ही केवलज्ञान प्रगट हो गया था। यद्यपि वह काल अंतर्मुहूर्त प्रमाण था और उसमें भी असंख्यातों बार छठे-सातवें गुणस्थान में परिवर्तन कर श्रेणी पर चढ़े थे, फिर भी वह ४८ मिनट से कम ही था, ऐसे अध्यात्मयोगी-आत्मज्ञानी भरतेश्वर अपने अनंतज्ञान को प्रगट कर सिद्धि धाम को प्राप्त कर चुके हैं। वे हमें और आप सब पाठकों को भी सर्वसिद्धि प्रदान करें।